व्याख्यान सार-संग्रह पुस्तकमाला का १८ वाँ पुष्प

श्रीमज्जैनाचार्य

पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज के

व्याख्यानों के आधार पर

श्रावक के चार शिक्षा व्रत

सम्पादक—

बालचन्द श्रीश्रीमाल

मन्त्री—श्री साधुमार्गी जैन

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज

की सम्पदाय का

हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम (मालवा)

वि० सम्वत् १९९७ वीर सम्वत् २४६७ ईस्वी सन् १९४०	अर्द्ध-मूल्य =)	प्रथम संस्करण १०००

प्रकाशक—
श्री साधूमार्गी जैन
पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज
की सम्प्रदाय का
हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम (मालवा)

अखिल भारतवर्षीय
श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन
कॉन्फ्रेन्स द्वारा
श्री साहित्य निरीक्षक समिति
से
प्रमाणित

मुद्रक—
के० हमीरमल लूणियाँ
अध्यक्ष—
दि डायमण्ड जुबिली (जैन) प्रेस,
अजमेर

आवश्यक दो शब्द

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज साहिब के फरमाये हुए व्याख्यानों के आधार पर "श्रावक के चार शिक्षा व्रत" नामक यह पुस्तक "व्याख्यान सार-संग्रह पुस्तक माला" का अठारहवाँ पुष्प आपके सन्मुख उपस्थित करते हुए हमें अत्यानन्द होता है। इस से पूर्व के प्रकाशित व्याख्यान सार-संग्रह पुस्तक माला के सतरह पुष्पों को जैन और जैनेतर जनता ने जिस भाव से अपनाये हैं उसी के परिणाम स्वरूप यह अठारहवाँ पुष्प भी हम आपके कर-कमलों में पहुँचाने के लिये प्रोत्साहित हुए हैं।

मण्डल से प्रकाशित साहित्य के मुख्यतया दो विभाग हो सकते हैं। एक कथा विभाग और दूसरा तत्त्व विभाग। प्रस्तुत पुस्तक तत्त्व विभाग की है। कथा विभाग में जो रोचकता आ सकती है वह तत्त्व विभाग के साहित्य में नहीं आ सकती, फिर भी यह विषय इतना उपयोगी और भाव-प्रद है कि प्रत्येक जैन को इसे समझने की आवश्यकता है क्योंकि सामायिकादि क्रियाएँ जैन श्रावक के नित्य कर्म हैं और वे आत्मोत्थान के मार्ग हैं। इस विषयक सत् साहित्य के

अभाव के कारण यह क्रियाएँ वर्त्तमान समय में प्रायः अर्थ शून्य हो रही हैं। अतः यह पुस्तक श्रावक जीवन में नया ही आत्म-बल संचार करेगी ऐसी आशा है।

नियमानुसार यह पुस्तक अखिल भारतवर्षीय श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेन्स ऑफिस, बंबई द्वारा साहित्य निरीक्षक समिती से प्रमाणित कराली गई है और उनकी तरफ से मिली हुई सूचनाओं के अनुसार उचित संशोधन भी कर दिये गये हैं।

मण्डल द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की कीमत केवल कागज और छपाई की लागत के अन्दाज से रक्खी जाती है और अन्य किसी प्रकार के खर्च का भार पुस्तक पर नहीं डाला जाता है, इस कारण इस मण्डल द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का मूल्य अन्य संस्थाओं की पुस्तकों की अपेक्षा बहुत ही कम होता है। फिर भी सर्व साधारण इसका विशेष रूप से लाभ उठा सकें, इस भावना से प्रेरित होकर देशनोक (जिला–बीकानेर) निवासी श्रीमान् सेठ सुगनचन्दजी अबीरचन्दजी साहिब भूरा ने आधी लागत अपने पास से देकर इस पुस्तक को अर्द्ध मूल्य में वितरण कराई है। एतदर्थ आपकी उदारवृत्ति के लिये प्रशंसा करते हुए युरोपीय महायुद्ध के कारण कागज और छपाई के साधन महँगे होते हुए भी इस पुस्तक का अर्द्ध मूल्य केवल तीन आने ही रक्खे गये हैं।

यहां पर यह भी स्पष्ट कह देना उचित समझते हैं कि श्रीमज्जैनाचार्य महाराज साहिब के व्याख्यान साधु-भाषा एवं परिमित शब्दों में ही होते हैं किन्तु यह पुस्तक केवल व्याख्यानों में से ही संग्रह करके सम्पादन नहीं की गई है, अपितु व्याख्यानों का आधार लेकर ही सम्पादन की गई है। अतः इसमें जो कुछ भूल या सूत्र विरुद्ध शब्द आगये हों तो उसके जवाबदार हम ही हैं पूज्य महाराज साहिब नहीं। जो कोई सज्जन बन्धु-भाव से हमें सप्रमाण भूलें सूचित करेंगे तो आभार सहित स्वीकार की जावेंगी और द्वितीय संस्करण में उचित संशोधन भी कर दिया जावेगा। इत्यलम्।

भवदीय—

बालचंद श्रीश्रीमाल,	वर्द्धमान पीतलिया
सैक्रेटरी—	प्रेसीडेण्ट —

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचंदजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम (मालवा)

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल ऑफिस, रतलाम
श्रावण पूर्णिमा संवत् १९९७ वि०] [वीर संवत् २४६७

कागज और छपाई की लागत के हिसाब से

इस पुस्तक का मूल्य छः आने होता है

किन्तु

देशनोक (बीकानेर) निवासी

श्रीमान् सेठ

सुगनचन्दजी अबीरचन्दजी साहिब भूरा

ने

सर्व साधारण लाभ उठा सकें, इस हेतु

इसकी कमी अपनी तरफ से देकर

अर्द्ध—मूल्य तीन आने में

वितरण कराई है।

प्रकरण सूची

प्रकरण		पृष्ठांक
विषय प्रवेश	... ...	३
१ सामायिक व्रत—		
सामायिक व्रत का महत्व	...	११
सामायिक व्रत	...	१४
सामायिक का उद्देश्य	...	२०
सामायिक से लाभ	...	३८
सामायिक कैसी हो	...	४९
सामायिक व्रत के अतिचार	...	७१
२ देशावकाशिक व्रत—		
देशावकाशिक व्रत	...	७७
देशावकाशिक व्रत की दूसरी व्याख्या	...	८४
देशावकाशिक व्रत के अतिचार	...	९५
३ पौषधोपवास व्रत—		
पौषधोपवास व्रत	...	१०१
पौषधोपवास व्रत के अतिचार	...	१२२
४ अतिथि-संविभाग व्रत—		
अतिथि-संविभाग व्रत	...	१२७
अतिथि-संविभाग व्रत के अतिचार	...	१४५
उपसंहार	...	१४९

विषय-प्रवेश

वृक्ष जब हरा-भरा सघन छाया युक्त होता है और उस पर फल फूल होते हैं, तब वह बड़ा ही मनोहर रम्य तथा सुन्दर दिखाई देता है एवं देखने वाले को आह्लादित करता है। किन्तु वृक्ष के ऐसा होने का कारण उसके मूल का हरा-भरा होना ही है। वृक्ष के मूल का जब तक सिंचन होता रहता है और उसको पोषक द्रव्य की प्राप्ति होती रहती है, तभी तक वृक्ष की मनोहरता और रम्यता भी बनी रहती है।

जिस प्रकार वृक्ष की मनोहरता और रम्यता का कारण उसका मूल है, उसी प्रकार आत्मा को परम सुख एवं मोक्ष की प्राप्ति का कारण सम्यक् ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र युक्त त्याग मय जीवन है। ऐसा जीवन दो तरह का होता है। जिनमें से एक है साधुता

पूर्ण जीवन और दूसरा है श्रावकत्व-पूर्ण जीवन। जिनका जीवन साधुता-पूर्ण है, उनके लिए तो सांसारिक-बन्धन के सभी तंतु टूट जाते हैं और उनका प्रयत्न मोक्ष प्राप्त करने का ही रहता है। किन्तु गृहस्थ-श्रावक के सामने अनेक सांसारिक झंजट एवं अनुकूल प्रतिकूल आकर्षण रहते हैं तथा उन्हें कौटुम्बिक और जीवन-यापन सम्बन्धी बाधाएँ भी घेरे रहती हैं। इन सब के होने पर भी श्रावक के लिए आत्म-कल्याण के हेतु श्रावकत्व-पूर्ण जीवन बिताना आवश्यक है। इस बात को दृष्टि में रख कर ही शास्त्रकारों ने, श्रावकों के लिए पाँच मूल व्रत की रक्षा के उद्देश्य से, मूल व्रत को सिंचन देने वाले तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत का विधान किया है। जिस प्रकार मूल को सिंचन मिलता रहने पर ही वृक्ष हरा-भरा रहता है, उसी प्रकार श्रावक के पाँच मूल व्रत भी तभी विशुद्ध रहेंगे जब उन्हें गुण व्रत और शिक्षा व्रत द्वारा सिंचन मिलता रहेगा।

शिक्षा व्रत स्वीकार करने का अर्थ है, आत्मा को जागृत रख कर शुद्ध दशा प्रकटाने के लिए विशेष उद्यमी बनाना। इसलिए अब यह देखते हैं, कि श्रावक के बारह व्रत में से पिछले चार व्रतों को शिक्षा व्रत क्यों कहा जाता है, इन चार व्रतों से शेष आठ व्रतों का क्या सम्बन्ध है और इन चार व्रतों का पिछले आठ व्रतों पर क्या प्रभाव पड़ता है।

श्रावक जो व्रत स्वीकार करता है, वे सर्व से नहीं किन्तु देश से होते हैं। इसलिए श्रावक की त्याग बुद्धि को सिंचन मिलना अत्यावश्यक है। पाँच अणु व्रत को सिंचन मिलता रहे इसीलिए तीन गुण व्रत स्वीकार करके अपनी आवश्यकताएँ सीमित कर दी जाती हैं और पुद्गलों में आनन्द मानना त्याग कर जीवन-निर्वाह के लिए बहुत थोड़े पदार्थ का उपभोग किया जाता है। लेकिन यह वृत्ति तभी टिकी रह सकती है, जब आत्मा-अनात्मा का भान हो और पदार्थ तथा आत्मा का भेद विज्ञान हो। सामायिकादि चार शिक्षा व्रत आत्म-भान को जागृत बनाये रखने और भेद विज्ञान स्थिर रखने के साधन हैं। इसलिए इन चार व्रतों का जितना भी अधिक आचरण किया जावेगा, पूर्व के आठ व्रतों पर उतना ही अधिक प्रभाव पड़ेगा और वे उतने ही अधिक विशुद्ध होते जावेंगे।

शिक्षा व्रत पूर्व के आठ व्रतों की भाँति यावज्जीवन के लिए स्वीकार नहीं किये जाते हैं, किन्तु गृहकार्यादि से अवकाश पाकर उस अवकाश का सदुपयोग इन व्रतों के आचरण द्वारा करने का विधान है।

सामायिक व्रत का आचरण करके श्रावक यह विचार करे कि मैंने जो स्थूल अहिंसादि व्रत स्वीकार किये हैं, उन व्रतों के द्वारा मेरे में किस अंश तक समभाव आया है। इसी प्रकार

दिक्-परिमाणादि व्रतों द्वारा मुझ में सांसारिक पदार्थों के प्रति कितनी विरक्ति आई है तथा मैं आत्मा को समाधि भाव में किस अंश तक स्थिर कर सका हूँ। सामायिक व्रत मूल व्रत और गुण व्रत की परीक्षा स्वरूप है। देशावकासिक व्रत द्वारा कुछ समय के लिए विशेष आत्म संयम किया जाता है एवं न्यूनतम सामग्री से अपनी आवश्यकताएँ पूरी करके सन्तोष-वृत्ति की ओर बढ़ा जाता है। संसार में जिन भोग्योपभोग पदार्थ के लिए हाय-हाय मची रहती है, क्लेष-कंकास और विग्रह होता रहता है, जिनके न मिलने से लोग दुःखी रहते हैं, श्रावक इस देशावकासिक व्रत को स्वीकार करके उन पदार्थों का अधिक से अधिक त्याग करता है और इस प्रकार संसार का दुःख कैसे मिट सकता है इस बात का आदर्श रखता है।

श्रावक जिस उच्च स्थिति पर पहुँचना चाहता है, और जिस पूर्ण विरक्ति का इच्छुक है, पौषधोपवास द्वारा उस स्थिति पर पहुँचने तथा विरक्त दशा प्राप्त करने का अभ्यास करता है और अपने जीवन को उच्चता की ओर ले जाता है। अर्थात् आत्म-ज्योति जगाता है।

ऊपर कहे गये तीनों व्रत अपने आत्मा को उन्नत बनाने के लिए अभ्यास रूप हैं, लेकिन चौथा अतिथि संविभाग व्रत जैन धर्म की विशालता और विश्व-बन्धुत्व की भावना का परिचय

देता है। इस व्रत का विशेष सम्बन्ध बाह्य जगत से है। इस व्रत का प्रचलित नाम 'अतिथि संविभाग' है, लेकिन शास्त्रों में इस व्रत का नाम 'अहा संविभाग' बताया गया है। इस नाम का यह भाव भी है कि अपने खान-पान के पदार्थों के प्रति ममत्व या गृद्धि भाव न रख कर उनका भी विभाग करना और साधु आदि को देने की भावना रखना। यद्यपि इस व्रत के पाठ में मुख्यता साधु को ही है लेकिन आशय बहुत ही गहन है। लक्ष्यार्थ बहुत विशाल है। इस प्रकार यह व्रत, श्रावक की उदारता और विशाल भावना का बाह्य जगत को परिचय देता है।

सारांश यह है कि ये चारों शिक्षा व्रत श्रावक के जीवन को पवित्र उन्नत तथा आदर्श बनाते हैं। साथ ही श्रावक को, उपस्थित सांसारिक प्रसङ्गों में न फँसने देकर संसार व्यवहार के प्रति जल-कमलवत बनाये रखते हैं। इसलिए इन व्रतों का जितना भी अधिक आचरण किया जावे, उतना ही अधिक लाभ है।

१

सामायिक व्रत

सामायिक व्रत का महत्व

जैन समाज में सामायिक का बहुत ही महत्त्व है। सामायिक करने के लिए आग्रह किया जाता है, उपदेश-आदेश भी दिया जाता है तथा यह प्रतिज्ञा भी कराई जाती है कि एक दिन या एक महीने में इतनी सामायिक अवश्य ही करूँगा। दूसरे त्याग प्रत्याख्यान या श्रावकत्व विषयक दूसरी किसी योग्यता की उतनी अधिक अपेक्षा नहीं की जाती, जितनी सामायिक की की जाती है। साधु महात्मा और धार्मिक लोग सामायिक के लिए अधिक प्रेरणा करते देखे जाते हैं। उनकी सामायिक विषयक प्रेरणा को उचित एवं हितावह मानने में दो मत हो भी नहीं सकते। क्योंकि सामायिक का महत्व ऐसा ही है। ऐसा होते हुए भी सामायिक के प्रति पहले के लोगों में

जैसी श्रद्धा थी या वर्त्तमान वृद्ध लोगों में जैसी श्रद्धा देखी जाती है और वे सामायिक विषयक उपदेश-आदेश अथवा प्रेरणा का जितना आदर करते हैं, उतना आदर या सामायिक के प्रति वैसी श्रद्धा वर्त्तमान नवयुवकों में नहीं देखी जाती। इस अन्तर का कोई कारण भी अवश्य ही होना चाहिए। विचार करने पर इसका यही कारण जान पड़ता है, कि साधु महात्माओं अथवा धार्मिक गृहस्थों की ओर से सामायिक करने के लिए की जाने वाली प्रेरणा के परिमाण में सामायिक की विशद व्याख्या, सामायिक का महत्व एवं उद्देश्य आदि समझाने का प्रयत्न उतना नहीं किया जाता है। वर्त्तमान नवयुवकों के सामने न तो कोई ऐसा आदर्श ही है, न साहित्य ही है, जिसको देखकर सामायिक की ओर उनकी रुचि बढ़े। सामायिक विषयक जो थोड़ासा साहित्य है, वह भी ऐसा है, कि जिसे थोड़े से वे लोग ही जान सकते हैं, जिनकी गणना विद्वानों में है। जन साधारण में सामायिक विषयक साहित्य का प्रचार नहीं है। इस कारण सामायिक करने वाले लोगों में से अनेक लोग, सामायिक के मूल उद्देश्य के विरुद्ध सामायिक में होने पर भी ऐसे-ऐसे काम कर डालते हैं, जिनका करना उस समय सर्वथा अनुचित है जबकि सामायिक ग्रहण की हो। उस समय सामायिक ग्रहण किये हुए व्यक्ति को, एकान्त में बैठकर परमात्मा का भजन-स्मरण या ध्यान-चिंतन आदि

करना चाहिए। परन्तु कई लोग आत्म शुद्धि के लिए ऐसे कार्य करने के बदले सामायिक लेकर बैठे होने पर भी ऐसी बातें या ऐसे कार्य करते हैं, जिनके कारण समीप बैठे हुए अन्य सामायिकधारी लोगों के चित्त की भी एकाग्रता नष्ट होती है, तथा उनका चित्त भी उन बातों या कार्यों की ओर खिंच जाता है। जहाँ धर्म-कार्य के लिये अनेक लोग एकत्रित होते हैं, ऐसे पौषधशाला आदि स्थानों पर तो सामायिक करने वालों का चित्त विशेष एकाग्र रहना चाहिए, चित्त में स्थिरता होनी चाहिए, किन्तु सामायिक का उद्देश्य एवं सामायिक की विधि न जानने वाले लोगों के कारण ऐसे धर्म स्थानों का भी वातावरण दूषित हो जाता है और कभी-कभी तो किसी एक के कुछ कहने पर दूसरा कुछ तथा तीसरा कुछ कहता है और होते-होते वह धर्म स्थान कलह स्थान बन जाता है।

तात्पर्य यह है कि सामायिक विषयक श्रेष्ठतम आदर्श और सरल साहित्य के अभाव के कारण वर्त्तमान युवकों की रुचि और श्रद्धा सामायिक के प्रति कम देखी जाती है। इस बात को दृष्टि में रख कर ही सामायिक विषयक यह साहित्य जनता के सामने रखा जाता है। आशा है कि यह साहित्य सामायिक सम्बन्धी प्रवृत्ति में घुसे हुए दूषणों को निकाल कर सामायिक के प्रति लोगों में श्रद्धा एवं रुचि उत्पन्न करने में सहायक होगा। (संपादक)

सामायिक व्रत

सामायिक व्रत, श्रावक के बारह व्रतों में से नववाँ और श्रावक के चार शिक्षा व्रतों में से पहला है। यह व्रत, पाँच मूल और तीन गुण ऐसे आठ व्रतों को विशुद्ध रखने एवं आत्मज्योति प्रकटाने की शिक्षा प्रदान करता है, इसीलिए इस व्रत की गणना चार शिक्षा व्रत में की गई है। आत्मा में प्रदीप्त विषय-कषाय की आग को शान्त करके आत्मा को पवित्र बनाने एवं बन्धन रहित करने के लिए सामायिक व्रत मुख्य साधन है। इस व्रत के आचरण से आत्मा में परम शान्ति प्राप्त होती है। इसलिए सांसारिक उपाधियों से समय बचाकर इस व्रत के आचरण में जितना भी अधिक समय लगाया जा सके, उतना ही अच्छा है।

अब यह देखते हैं कि १ सामायिक किसे कहते हैं, २ सामायिक किस उद्देश्य से की जाती है, ३ सामायिक करने से क्या लाभ होता है और ४ सामायिक किस तरह करनी चाहिए। जिससे उस सामायिक का दूसरों पर प्रभाव पड़े और अपने लिये ध्येय के समीप पहुँचने में सिद्धि प्राप्त हो। इन चार विषयों में से प्रथम सामायिक किसे कहते हैं, आदि बताने के लिए टीकाकार कहते हैं—

समो रागद्वेष वियुक्तो यः सर्व भूतान्यात्मवत्
पश्यति तस्य आयो लाभ प्राप्तरिती पर्यायाः।
अन्य च-समस्य आयः समायः समोहि
प्रतिक्षण म पूर्वज्ञान दर्शन चरण
पर्यायैर्भवाटवो भ्रमण संकल्प विच्छेदकै—
निरूपम सुख हेतु भिरयः कृत चिन्तामणि
कामधेनु कल्पद्रुमोपमैर्युज्यते स एवं समायः
प्रयोजनमस्य कियानुष्ठानस्येति मूल गुणा—
नामाधार भूतं सर्व सावद्य विरति रूपं
चारित्रम् सामायिकं समाय एव सामायिकं।

अर्थात्—रागद्वेष रहित होकर सब जीवों को आत्म तुल्य मानने को 'सम' कहते हैं। इस समभाव की आय (समभाव के लाभ) को 'समाय' कहते हैं। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विशेष रूप से यह कहते हैं कि प्रतिक्षण अपूर्व ज्ञान, दर्शन, चारित्र की पर्याय से जो भव-रूपी अटवी में भ्रमण करने के संकल्प को विच्छेद करके उस निरूपम परम सुख का कारण है, जिस परम सुख के लिए कोई उपमा ही नहीं है, तथा संसार में सुख के उत्कृष्ट साधन माने जाने वाले चिन्तामणि कामधेनु और कल्प वृक्ष को भी जो परम सुख तुच्छ बना देता है, उसको 'सम' कहते हैं।

ऐसे समत्व की आय (समत्व का लाभ) 'समाय' कहलाता है। इस समाय में जिस क्रिया के द्वारा प्रवृत्ति की जाती है, उसी क्रिया को सामायिक कहते हैं।

टीकाकार के इस कथन से स्पष्ट है कि सामायिक शब्द 'सम' और 'आय' इन दो शब्दों के संयोग से 'क' प्रत्यय लगकर बना है। सम + आय=समाय का मतलब है समभाव की प्राप्ति। इस प्रकार जिस क्रिया के द्वारा समभाव की प्राप्ति होती है और राग-द्वेष कम पड़ता है, विषय-कषाय की आग शान्त होकर चित्त स्थिर होता है तथा सांसारिक प्रपंचों की ओर आकर्षित न होकर आत्मभाव में रमण किया जाता है, उस क्रिया को शास्त्रकार 'सामायिक' कहते हैं।

वस्त्र उतार कर आसन बिछा के बैठ जाना और मुख-वस्त्रिका मुख पर बाँध रजोहरण, पूँजनी, माला आदि धारण करना, सामायिक के अनुरूप साधन अवश्य हैं, लेकिन इन साधनों को लेकर बैठ जाना ही सामायिक नहीं है। सामायिक तो तब है, जब उक्त साधनों से युक्त होकर त्याज्य कार्यों को त्याग दिया जावे और चित्त को शान्त तथा एकाग्र करके प्रशस्त विचार किया जावे। यानी आत्म अनात्म अथवा जीव और पुद्गल के स्वरूप को विचार किया जावे, या पदस्थ पिंडस्थ आदि चार प्रकार के ध्यान में आत्मा को लगा दिया जावे। पदस्थ पिंडस्थ आदि ध्यान आत्मा का सच्चा

स्वरूप प्रकट करते हैं और आत्मा को समभाव में स्थापित करते हैं। इसलिए सामायिक में किये जाने वाले चारों प्रकार के ध्यान का रूप, एक कवि के कथनानुसार संक्षेप में बताया जाता है। वह कवि कहता है—

अक्षर पद को अर्थ रूप ले ध्यान में,
जे ध्यावें इम मन्त्र रूप इक तान में।
ध्यान पदस्थ सु नाम कह्यो मुनिराज ने,
जे यामे व्है लीन लहें निज काज ने॥

अर्थात्—पंच परमेष्टि मन्त्र के पैंतीस अक्षरों को भिन्न-भिन्न रूप में विकल्प कर उनका ध्यान करना और पंच-परमेष्टि मन्त्र के पाँचों पद का भिन्न-भिन्न अर्थ विचार कर उस अर्थ में लौ लगाना, अथवा पंच-परमेष्टि मन्त्र के स्वर व्यंजन का वर्गीकरण करके अपने नाभि-मंडल में मन्त्र के पदों से कमल का रूप कल्पना, एक पद को मध्य में रखकर शेष चार पद को चारों दिशा में रखकर उस कमल में आत्मा को स्थित करना, इत्यादि पदस्थ ध्यान है।

या पिण्डस्थ ध्यान के माँहि, देह विषे स्थित आतम ताहि।
चिन्ते पंच धारणा धारि, निज आधीन चित्त को पारि॥

अर्थात्—इस देह में रहे हुए अखण्ड अविनाशी शाश्वत अमूर्त्त और सिद्ध स्वरूप आत्मा का पृथ्वी अग्नि वायु जल और तत्त्वरूपवती इन पाँच तत्त्व की कल्पना द्वारा ध्यान करना, पिंडस्थ ध्यान है। पाँच तत्त्व की कल्पना में किस किस प्रकार की कल्पना की जाती है, यह संक्षेप में नीचे बताया जाता है।

पृथ्वी की कल्पना करने में द्वीप समुद्र आदि का ध्यान करता हुआ स्वयंभूरमण समुद्र का ध्यान करके अपने को स्वयंभूरमण समुद्र

जैसा शान्त तथा गम्भीर बनाकर, उस समुद्र में रहे हुए कमल का ध्यान करे और उस कमल के मध्य की कर्णिका पर आत्मा को स्थित करे।

अग्नि की कल्पना करने में, यह माने कि पृथ्वी तत्त्व विषयक कमल की कर्णिका पर स्थित आत्मा, कर्म-मल को पवित्र भावना रूपी अग्नि से भस्म करने में समर्थ है।

वायु की कल्पना में यह माने, कि पवित्र भावना रूपी अग्नि द्वारा जलाये गये कर्म-मल की भस्मराशि उड़ जाने पर आत्मा निर्मल और शुद्ध होता है।

जल के विषय में, जिस पर की भस्मराशि उड़ गई है, उस आत्म-तत्त्व को निर्मल रखने के लिए जलधार की कल्पना करे और उस जलधार से आत्मा पर लगे हुए भस्मकण धोकर आत्मा को शुद्ध करे।

तत्त्व रूपवती की कल्पना में, निर्मल तथा ज्योतिर्मय आत्मा के स्वरूप का दर्शन करे।

यह पिण्डस्थ ध्यान की बात हुई। आगे रूपस्थ ध्यान के विषय में कवि कहता है—

सर्व विभय युत जान, जे ध्यावें अरिहन्त को।
मन वसि करि सति मान, ते पावें तिस भाव को॥ (सोरठा)

अर्थात्—ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय के धारक, अष्ट महा प्रतिहार, चौतीस अतिशय और वाणी के पैंतीस गुण-युक्त, इन्द्र तथा देवों के

पूजनीय, ज्ञानावरणीय आदि घातक कर्म के नाशक, अनन्त केवलज्ञान रूप लक्ष्मी से युक्त, अरिहन्त भगवान के स्वरूप का ध्यान करके यह मानना कि मेरा भी आत्मा ऐसा ही है, अन्तर केवल यही है कि अरिहन्त भगवान ने आत्मा रूपी सूर्य का प्रकाश रोकने वाले कर्म रूपी आवरण को नष्ट कर दिया है, लेकिन मेरा आत्मा कर्म–मल से आच्छादित है, उस कर्म-मल को हटा देने पर इस परमात्म स्वरूप में और मेरे में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार की भावना करते हुए, जीवनमुक्त-अजन्मा और नष्ट पाप परमात्मा से तन्मयता साधना, रूपस्थ ध्यान है।

इति विगत विकल्पं क्षीण रागादि दोषं
विदित सकल वेद्यं त्यक्त विश्व प्रपंचः।
शिवमजमनवद्यं विश्व लोकीक नाथं
परम पुरुष मुंचै र्भावशुद्ध्या भजस्वः॥
(मालिनी वृत्तम्)

अर्थात्—जिनके समस्त विकल्प मिट गये हैं, रागादि दोष क्षीण हो चुके हैं, जो समस्त पदार्थों को जानते हैं, जिनने जन्म-मरण का प्रवाह नष्ट कर दिया है, जो पाप-रहित हो गये हैं, जो समस्त लोक के नाथ होकर लोकाग्र पर स्थित हैं, उन रूपातीत सिद्ध भगवान के स्वरूप का चिन्तवन करके अपने को उस रूप में लय करदे, उनके स्वरूप से आत्मा की तुलना करता हुआ सत्ता की अपेक्षा से आत्मा को भी उनके समान जानकर आत्मा का वैसा ही रूप प्रकट करने के लिए उनके रूप के ध्यान में तल्लीन हो जाना, रूपातीत ध्यान है।

ऊपर बताये गये ध्यानों में रमण करने का नाम ही सामायिक है। ऐसे ध्यान के द्वारा आत्मा समभाव को प्राप्त होता है।

सामायिक का उद्देश्य

सामायिक क्यों करनी चाहिये ? सामायिक का उद्देश्य क्या है ? इसके लिये कहा गया है कि—

समभावो सामाइयं, तण कंचण सत्तुमित्त विउ सउत्ति ॥
णिरभिसंगं चित्तं, उचिय पवित्ति पहाणाणं ॥ १ ॥

इस गाथा में कहा है कि सामायिक का उद्देश्य है—समभाव की प्राप्ति अर्थात् तृण और कंचन, शत्रु और मित्र पर राग-द्वेष रहित बनकर समभाव का प्राप्त करना यही सामायिक करने का उद्देश्य है किन्तु इस तरह का समभाव पूर्णतया तो तभी प्राप्त होता है, जब रागद्वेष का सर्वथा नाश हो जावे और रागद्वेष का पूर्णतया नाश तब प्राप्त होता है, जब वीतराग दशा प्रकट हो। जब तक रागद्वेष सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता, तब तक वीतराग दशा प्रकट नहीं हो सकती

और जब तक वीतराग दशा प्रकट नहीं होती है, तब तक रागद्वेष का सर्वथा नाश भी नहीं होता है, न पूर्ण समभाव की प्राप्ति ही होती है। वीतराग दशा प्रकट करने का मार्ग, आत्मा को शुक्लध्यान में लगाकर मोहकर्म की प्रकृतियों को उड़ाना और ग्यारहवें या बारहवें आदि गुणस्थान पर पहुँचना है। ऐसी दशा में यह प्रश्न होता है, कि जब तक इस स्थिति पर न पहुँचा जाय, तब तक क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए सिद्धान्त कहता है कि पूर्ण समभाव तो वीतराग दशा प्रकट होने पर ही होगा, फिर भी इसके लिए क्रिया करते रहना चाहिए। बिना क्रिया किये एक दम वह स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती, कि जिसके प्राप्त होने पर पूर्ण समभाव प्राप्त हो जाय। वह स्थिति क्रिया करते रहने से ही प्राप्त हो सकती है। अतः वीतरागावस्था को ध्येय बनाकर, वह अवस्था प्राप्त करने लिए क्रिया करते ही रहना चाहिए। क्रिया न करके केवल यह कह कर बैठ रहने से कि 'ज्ञानी महाराज ने ज्ञान में जैसा देखा होगा वैसा होगा' कोई भी व्यक्ति उस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। इस तरह के कथन का अर्थ तो यही हुआ, कि हमारे किये कुछ भी नहीं होता है, लेकिन ऐसा मान बैठना, जैन सिद्धान्त को न समझना है। जिन लोगों को जैन सिद्धान्त का थोड़ा भी अभ्यास है, वे तो यही मानेंगे, कि हमें क्रिया अवश्य ही करनी चाहिए। यद्यपि होता तो वही है, जो

करता हूँ, उतने समय के लिए सावद्य व्यापार (कार्य) का दो करण तीन योग से त्याग करता हूँ। यानी मन वचन काय के योग से न तो मैं स्वयं ही सावद्य कार्य करूँगा, न दूसरे से ही कराऊँगा। इतना ही नहीं, किन्तु सामायिक ग्रहण करने से पहले मैंने जो सावद्य अनुष्ठान किये हैं, उन सब की वचन से निन्दा करता हूँ, मन से घृणा करता हूँ और उन कषायादि दुष्प्रवृत्तियों से अपनी आत्मा को हटाता हूँ।

इस प्रकार सामायिक करने के लिए वे समस्त कार्य त्यागे जाते हैं जो सावद्य हैं। सावद्य का अर्थ है 'स अवद्यः सावद्यः' यानी अवद्य सहित कार्य को सावद्य कहते हैं। अवद्य का अर्थ है पाप इसलिए सामायिक ग्रहण करने के लिए वे सब कार्य त्याज्य हैं, जिनके करने से पाप का बन्ध होता है और आत्मा में पाप कर्म का स्रोत आता है।

शास्त्रकारों ने पाप की व्याख्या करते हुए अठारह कार्य में पाप बताया है। उन अठारह में से किसी भी कार्य को करने पर कर्म का बन्ध होकर आत्मा भारी होता है और जो आत्मा कर्म के बोझ से भारी है वह समभाव को प्राप्त नहीं कर सकता। जिन कार्यों से कर्म का बन्ध हो कर आत्मा भारी होता है, थोड़े में उन पाप कार्यों का भी वर्णन किया जाता है।

१ प्राणातिपात यानी जीव हिंसा—इस सम्बन्ध में प्रश्न होता है कि जीव तो शाश्वत है। जीव का अजीव न तो कभी हुआ है, न होता ही है और न होगा ही। फिर हिंसा किसकी

होती है और पाप क्यों लगता है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जीव का नाश तो कभी नहीं होता, परन्तु जीव ने अपना जीवत्व व्यक्त करने के लिये जो सामग्री एकत्रित की है, और जीव की जिस सामग्री को प्राण कहा जाता है, उस सामग्री को नष्ट करना या धक्का पहुँचाना—यानी प्राण नष्ट करना या प्राण को आघात पहुँचाना ही हिंसा है। इसके लिए कहा भी है कि—

प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा।

इसका भावार्थ यह है कि ऐसा विचार करना, ऐसी भाषा बोलना या ऐसा कार्य करना कि जिससे किसी भी प्राणी के प्राणों को आघात पहुँचे, वह हिंसा है और ऐसी हिंसा ही 'प्राणातिपात' पाप है।

२ मृषावाद यानी झूठ बोलना—जो बात जैसी है या जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा न कह कर विपरीत कहना, बताना और वास्तविकता को छिपाना 'मृषावाद' है। ऐसा करने से कई प्रकार के अनर्थ होते हैं इसलिये यह भी पाप है।

३ अदत्ता दान यानी चोरी—जो पदार्थ अपना नहीं किन्तु दूसरे का है वह सचित अचित या मिश्र पदार्थ उस पदार्थ को मालिक से छिपा कर गुप्त रीति से ग्रहण करना चोरी है। अथवा दूसरे के अधिकार की वस्तु पर जबरदस्ती अपना अधिकार जमा लेना भी चोरी है। क्योंकि उसकी आत्मा दुःख पाती है इस तरह की चोरी 'अदत्ता दान' नाम का पाप है।

४ मैथुन—मोह दशा से विकल होकर स्त्री आदि मोहक पदार्थ पर आसक्त हो स्त्री पुरुष का परस्पर वेद-जन्य चेष्टा करना (विकार में प्रवृत्त होना) मैथुन है। 'मैथुन' में फँसे हुए लोग अकृत्य कार्य भी कर डालते हैं और आत्म-भाव को भूल जाते हैं। इसलिए 'मैथुन' भी पाप है।

५ परिग्रह—किसी भी सचित अचित अथवा मिश्र पदार्थ के प्रति ममत्व रखना, उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करना, प्राप्त पदार्थ का संग्रह करना, उन्हें अपने अधिकार में रखने की चेष्टा करना और उनके प्रति आसक्त रहना 'परिग्रह' है। परिग्रह के लिए अनेक अनर्थ किये जाते हैं, इसलिए यह भी पाप है।

६ क्रोध—किसी निमित्त के कारण अथवा अकारण अपने या दूसरे के आत्मा को तप्त करना 'क्रोध' है। जब क्रोध होता है तब अज्ञानवश हिताहित नहीं सूझता है, लेकिन क्रोधावेश में किये गये कार्य के लिए फिर पश्चात्ताप होता है। क्रोध, कलह का मूल है इसलिए 'क्रोध' भी पाप है।

७ मान—दूसरे को तुच्छ और स्वयं को महान मानना 'मान' है। मानी व्यक्ति ऐसे ऐसे शब्दों का प्रयोग कर डालता है जिन्हें सुनकर दूसरे को बहुत दुःख होता है और दूसरे के हृदय में प्रति-हिंसा की भावना जागृत होती है। इसलिए 'मान' भी पाप है।

८ माया—अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को ठगने और धोखा देने की जो चेष्टा की जाती है, उसे 'माया' कहते हैं। माया के कारण दूसरे प्राणी को कष्ट में पड़ना पड़ता है, इसलिए 'माया' भी पाप है।

९ लोभ—हृदय में किसी चीज की अत्यधिक चाह रखने का नाम 'लोभ' है। लोभ ऐसा दुर्गुण है कि जिसके कारण सभी पापों का आचरण किया जा सकता है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि क्रोध मान और माया से तो एक एक सद्गुण का ही नाश होता है, लेकिन लोभ सभी सद्गुणों को नष्ट करता है। इसी कारण 'लोभ' की गणना पाप में की गई है।

१० राग—किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्ति रूप प्रेम होने का नाम 'राग' है अथवा सुख की अनुसंगति को भी 'राग' कहते हैं। वास्तव में कोई भी वस्तु अपनी नहीं है परन्तु जब उस वस्तु को अपनी मान लिया जाता है, तब उसके प्रति राग होता है और जहाँ राग है वहाँ सभी अनर्थ सम्भव हैं। इसीलिए 'राग' को भी पाप में माना गया है।

११ द्वेष—अपनी प्रकृति के प्रतिकूल बात सुनकर या कार्य अथवा पदार्थ देख कर जल उठना, उस बात, कार्य या पदार्थ को न चाहना और उस बात कार्य या पदार्थ को निःशेष करने की भावना अथवा प्रवृत्ति करना द्वेष है। 'द्वेष' की गणना भी पाप में है।

१२ कलह—किसी भी अप्रशस्त संयोग के मिलने से मन में कुढ़कर वाग्युद्ध करना 'कलह' है। कलह से अपने आत्मा को भी परिताप होता है और दूसरे को भी। इसलिए 'कलह' भी पाप है।

१३ अभ्याख्यान—किसी भी मनुष्य पर कोई बहाना पाकर दोषारोपण करना, कलङ्क चढ़ाना, 'अभ्याख्यान' है, जो पाप है।

१४ पैशुन्य—किसी मनुष्य के सम्बन्ध में चुगली खाना इधर की बात उधर लगाना 'पैशुन्य' है। 'पैशुन्य' की गणना भी पाप में है।

१५ परपरिवाद—किसी की बढ़ती न देख सकने के कारण उस पर सचा झूठा दूषण लगा कर उसकी निन्दा करना 'परपरिवाद' है। यह भी पाप है।

१६ रति अरति—निज स्वरूप को भूल कर पर भाव में पड़ा हुआ पुद्गलों में आनन्द मानने वाला व्यक्ति अनुकूल वस्तु की प्राप्ति से आनन्द और प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति से दुःख मानता है। यह 'रति अरति' है, जो पाप है।

१७ माया मृषा—कपट सहित झूठ बोलना, यानी इस तरह चालाकी से बोलना या ऐसा व्यवहार करना कि प्रकट में सत्य दीखे परन्तु वास्तव में झूठ हो और जिसको दूसरा व्यक्ति

सत्य तथा सरल मान कर नाराज न हो 'माया मृषा' है। आजकल जिसे पॉलिसी कही जाती है, वह पॉलिसी शास्त्र के समीप 'माया मृषा' है, जो पाप है।

१८ मिथ्या दर्शन शल्य—तत्त्व में अतत्त्व-बुद्धि और अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि रखना, देव को कुदेव और कुदेव को देव, गुरु को कुगुरु और कुगुरु को गुरु, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना या ऐसी बुद्धि रखना 'मिथ्या दर्शन शल्य' रूप विपरीत मान्यता का पाप है।

ये अठारहों पाप स्थूल रूप हैं। सूक्ष्म रूप तो बहुत गहन हैं। सामायिक ग्रहण करने के समय इन अठारहों पापों का त्याग दो करण तीन योग से किया जाता है।

सामायिक दो तरह की होती है, एक देश सामायिक और दूसरी सर्व सामायिक। देश सामायिक ग्रहण करने वाला श्रावक अपने अवकाशानुसार समय के लिए उसी पाठ से सामायिक ग्रहण करता है, जो पाठ ऊपर कहा गया है। सर्व सामायिक केवल वे ही लोग ग्रहण करते हैं या कर सकते हैं, जिन्हें सांसारिक विषय कषाय से घृणा हो गई है। चक्रवर्ती को प्राप्त होने वाले सुख के साधन तथा भोग्य पदार्थ भी जिन्हें नहीं ललचा सकते हैं, दुःख के पहाड़ भी जिन्हें क्षुभित नहीं कर सकते हैं और जो पौद्गलिक पदार्थ से सर्वथा निर्ममत्व हो गये हैं। यद्यपि इस विषय में भी

चार भांगे हैं। यद्यपि कई लोग सर्व सामायिक ग्रहण करने के समय इस स्थिति पर पहुँचे हुए भी नहीं होते हैं, किन्तु दुःख अथवा किसी प्रलोभन के कारण उत्पन्न वैराग्य से सर्व विरती सामायिक स्वीकार कर लेते हैं और फिर ज्ञान होने पर उक्त स्थिति पर पहुँच जाते हैं फिर भी आदर्श तो उत्कृष्ट ही प्रतिपादन होगा। इसलिए यही कहा जा सकता है कि सर्व सामायिक वे ही लोग ग्रहण करने के योग्य हैं जिनमें उक्त योग्यता विद्यमान हो या सम्भावना हो। सर्व सामायिक वही ग्रहण करता है और सर्व सामायिक ग्रहण करने का पाठ भी वही पढ़ता है जो गृहस्थावस्था त्याग कर दीक्षा ग्रहण करता हो। देश सामायिक और सर्व सामायिक ग्रहण करने के पाठ में अन्तर यह है कि सर्व सामायिक ग्रहण करने वाला अठारह पापों का यावज्जीवन के लिए त्याग करता है और देश सामायिक ग्रहण करने वाला व्यक्ति अपनी सुविधानुसार एक, दो, चार, पाँच या अधिक मुहूर्त के लिए। यह भेद काल की अपेक्षा से हुवा, भाव की अपेक्षा से यह भेद है कि सर्व सामायिक ग्रहण करने वाला व्यक्ति अठारह पापों का तीन करण तीन योग से त्याग करता है और देश सामायिक ग्रहण करने वाला दो करण तीन योग से त्याग करता है। गृहस्थ श्रावक गृहस्थावस्था से पृथक् नहीं हो गया है, इस कारण उससे अनुमोदन का पाप नहीं छूट सकता। इसलिए वह दो करण और तीन योग से ही पाप का त्याग करता है। यानि

यह प्रतिज्ञा करता है कि इतने समय के लिए मैं मन, वचन और काय द्वारा न तो कोई पाप करूँगा ही और न कराऊँगा ही। इसके विरुद्ध सर्व सामायिक स्वीकार करने वाला सामायिक ग्रहण करने के समय यह प्रतिज्ञा करता है, कि मैं जीवनभर मन, वचन, काय द्वारा न तो कोई पाप करूँगा, न कराऊँगा और न किसी पाप का अनुमोदन ही करूँगा। यानि सर्व सामायिक स्वीकार करने वाला व्यक्ति पाप के अनुमोदन का भी त्याग करता है।

तात्पर्य यह है कि सामायिक दो प्रकार की होती है। एक तो इत्वर और दूसरी भाव। यानि एक तो देश सामायिक और दूसरी सर्व सामायिक। इतर सामायिक थोड़े समय के लिए ग्रहण की जाती है और सर्व सामायिक जीवन भर के लिए। दोनों प्रकार की सामायिक का उद्देश्य तो यही है, कि जो आत्मा अनादिकाल से विषय-कषाय में फँसकर पापपूर्ण कार्य करने के कारण कर्मों के लेप से भारी हो रहा है, उस आत्मा को इन कार्यों के त्याग और समभाव की प्राप्ति द्वारा हल्का किया जावे। देश या सर्व सामायिक, पूर्ण समभाव प्राप्त करने का अनुष्ठान है। लेकिन अनुष्ठान तभी सफल होता है, जब वह विधि-पूर्वक किया जावे और आत्मा एकाग्र होकर उस अनुष्ठान को करे। अनुष्ठान तब तक सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक चित्त में एकाग्रता न हो और चित्त तभी एकाग्र हो सकता है, जब उसको स्थिर किया जावे तथा इन्द्रियों में चंचलता

न रहे। इसलिए सामायिक करने वाले मुमुक्षु को इस बात की सावधानी रखनी चाहिए और यह पता लगाते रहना चाहिए, कि मेरे मन की चंचलता मिटी है या नहीं और इन्द्रियाँ विषय लोलुप होकर विषयों की ओर दौड़ती तो नहीं हैं! सामायिक मन और इन्द्रियों की चंचलता मिटाने का अभ्यास है। अतः सामायिक की शुद्धता और सफलता तभी समझनी चाहिए, जब इन्द्रियाँ विषयों की ओर आकर्षित न हों और मन इधर-उधर न दौड़े। चाहे जैसे सुहावने शब्द या गान-वाद्य हो अथवा चाहे जैसे कठोर एवं कर्कश शब्द हों, उनको सुनकर कान न तो हर्षित हों और न व्याकुल ही हों। सामने चाहे जैसा सुन्दर या भयंकर रूप आवे, आँखें उस रूप को देखकर न तो प्रसन्नता मानें न व्यथित या भीत हों। इसी प्रकार जब पाँचों इन्द्रियाँ अनुकूल विषय की ओर आकर्षित न हों, प्रतिकूल विषय से घृणा न करें, तथा मन में भी ऐसे समय पर रागद्वेष न आने किन्तु समतोल रहे, तब समझना कि हमारी सामायिक शुद्ध है एवं हमारी साधना सफलता की ओर बढ़ रही है। यदि इसके विरुद्ध प्रवृत्ति हो, तो उस दशा में साधना यानि अनुष्ठान का सफल होना कठिन है। इसलिए सामायिक करने वाले [illegible] और मन की चंचलता [illegible] दशा में [illegible] का प्रयत्न करना चाहिए [illegible] को [illegible] इस लक्ष्य की ओर [illegible]

करने पर सामायिक-क्रिया के द्वारा कभी पूर्ण समभाव भी प्राप्त किया जा सकता है और आत्मा पूर्णता को पहुँच सकता है। जब आत्मा में पूर्ण समभाव होगा तब आत्मा जीवन-मुक्त होकर परमात्मा बन जावेगा।

इन्द्रिय और मन की चंचलता एकदम से नहीं मिट सकती। इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता है। जब इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर आकर्षित हों और अपने साथ मन को भी उस ओर घसीटने लगें, तब इन्द्रियों को रोकने के लिए ज्ञान-ध्यान आदि शुभ एवं प्रशस्त क्रिया का अवलम्बन लेना चाहिए। ऐसा करने पर इन्द्रियाँ विषयों की ओर जाने से रुक जावेंगी और मन भी रुक जावेगा। छद्मस्थ जीवों के मन वचन के योग का निरोध स्थायी रूप से नहीं हो सकता। श्री प्रज्ञापनादि सूत्रों में भगवान महावीर ने मन वचन के योग की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की बताई है। छद्मस्थ जीवों के मन और वाणी के परमाणु अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक समय तक एक स्थिति में नहीं रह सकते। वे तो पलटते ही रहते हैं। श्री गीताजी में भी मन की दुर्दमनता और उसके निरोध के विषय में कहा है—

> चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमथि बलवद्दृढम्।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सु दुष्करम्॥

अर्थात्—हे कृष्ण! मन बड़ा ही चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला एवं

दृढ़ है। इसलिए उसे वश करना वैसा ही दुष्कर जान पड़ता है, जैसा दुष्कर वायु को वश में करना है।

अर्जुन के इस कथन के उत्तर में कृष्ण ने कहा—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

अर्थात्—हे महाबाहु! निःसन्देह मन चंचल और दुर्निग्रह है परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से मन को भी वश में किया जा सकता है।

सामायिक करना मन को वश में करने का अभ्यास है। इसलिए समभाव प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले को चाहिए कि वे मन को ऐसे प्रशस्त कामों में लगावें कि जिसमें वह इन्द्रियों के साथ विषयों की ओर न दौड़े और न इन्द्रियाँ ही विषय-लोलुप हों। इसके लिए सामायिक ग्रहण किये हुए व्यक्ति को निकम्मा न बैठना चाहिए, न सांसारिक प्रपंच की बातों में ही लगना चाहिए। निकम्मा बैठना, इधर उधर की सांसारिक प्रपंचपूर्ण अथवा विषय-विकार से भरी हुई ऐसी बातें करना जिनसे अपने या दूसरे के हृदय में रागद्वेष बढ़े, सामायिक का उद्देश्य भूलना है। और जब उद्देश्य ही विस्मृत कर दिया जावेगा तब क्रिया सफल कैसे हो सकती है! इसलिए सामायिक के समय ऐसे सब कार्य त्याग कर सूत्र सिद्धान्त का अध्ययन-मनन करना चाहिए, तत्वों का विचार करना चाहिए, अथवा जिनका ध्यान स्मरण करने से परमपद की

प्राप्ति हो सकती है, उन महापुरुषों की भक्ति और उन महापुरुषों के गुणानुवाद में मन लगा देना चाहिए। ऐसा करने पर आत्मा समभाव के समीप पहुँचेगा।

मन को स्थिर करने के लिए शास्त्रकारों ने पाँच प्रशस्त साधन बताये हैं। वे पाँच साधन इस प्रकार हैं—वाँचना, पूछना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा। इन पाँचों का रूप थोड़े में बताया जाता है।

१—वांचना से मतलब है प्रशस्त साहित्य का पढ़ना। प्रशस्त साहित्य वही है जो सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी अर्हन्त भगवान का कहा हुआ प्रवचन हो और जिसे सर्व अक्षर सन्निपाती गणधरों ने सूत्र रूप में गूँथा हो। अथवा ऐसे ही साहित्य के आधार से निर्मित ग्रन्थों की गणना भी प्रशस्त साहित्य में है।

इस व्याख्या पर से यह प्रश्न होता है कि क्या ऐसे साहित्य के सिवा शेष साहित्य प्रशस्त नहीं है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जावेगा, कि जिसकी दृष्टि सम है, जिसको सच्चे तत्त्व का बोध है, उसके लिए सभी साहित्य प्रशस्त हो सकता है, ऐसा नन्दी सूत्र में कहा है। समदृष्टि और सच्चे तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति जिस साहित्य को भी देखेगा, उस साहित्य में से तत्त्व निकाल कर उस तत्त्व का सम्यक् परिणमन ही करेगा। लेकिन ऐसी शक्ति आप्त वाक्य ही प्रदान करते हैं, इसलिए जिसे आप्त वचन का बोध है,

वही व्यक्ति दूसरे साहित्य से लाभ उठा सकता है। जिसको आप्त वचन का बोध नहीं है, वह व्यक्ति यदि दूसरा साहित्य देखेगा, तो लाभ के बदले हानि ही उठावेगा।

२—मन को स्थिर करने का दूसरा साधन 'पूछना' है। आप्त-साहित्य के वांचन से हृदय में तर्क—वितर्क का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। क्योंकि आप्त वाक्य अनन्त आशय वाले हैं, छद्मस्थ व्यक्ति पूरी तरह नहीं समझ सकता। इसलिए हृदय में उत्पन्न तर्क—वितर्क के विषय में विशेष ज्ञानी से पूछ—ताछ करके समाधान किया जाता है।

३—तीसरा साधन 'पर्यटना' है। जो जानकारी प्राप्त की है, जो ज्ञान मिला है, उसे हृदयंगम करने के लिए उस ज्ञान का बार-बार चिंतन करना, पर्यटना है। जब तक ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण नहीं हटता है, तब तक प्राप्त ज्ञान भी नहीं टिकता। इसलिए प्राप्त ज्ञान का पुनः पुनः आवर्त्तन अथवा पारायण करते रहना चाहिए। सामायिक में पर्यटना करने से चित्त स्थिर रहता है और आत्मा पर—भाव में नहीं जाता है।

४—चौथा साधन प्राप्त ज्ञान के बाह्य रूप से ही सन्तुष्ट न होकर उसके भीतरी तत्त्व की खोज करना 'अनुप्रेक्षा' है। यानि प्राप्त ज्ञान से मुझे क्या बोध लेना चाहिए इस बात को दृष्टि में रख कर प्राप्त ज्ञान के अन्तस्तल तक पहुँचने का प्रयत्न करना और

अनुभव बढ़ाना अनुप्रेक्षा है। बाह्य ज्ञान की अपेक्षा अनुभूत ज्ञान महा निर्जरा और समभाव को समीप करने वाला है। कहा है:—

मन वच तन थिरते हुए, जो सुख अनुभव माँय।
इन्द्र नरेन्द्र फणेन्द्र के, ता समान सुख नाय॥
(शांति प्रकाश)

५—धर्म कथा, उक्त चारों साधनों द्वारा आत्मा जो अनुभव प्राप्त करता है, उस अनुभव का दूसरे को लाभ देना, लोगों को हिताहित का बोध करा कर धर्म के सम्मुख करना और पतित होने से बचाना 'धर्म कथा' है।

उक्त पाँचों साधन इन्द्रीय और मन का निग्रह करके समाधि भाव में प्रवर्त्ताने के लिए प्रशस्त हैं। सामायिक ग्रहण किये हुए व्यक्ति को इन्हीं साधनों का सहारा लेना चाहिए, जिससे सामायिक ग्रहण करने का उद्देश्य, आत्मा को पूर्ण समाधि भाव में स्थित करना सफल हो।

सामायिक से लाभ
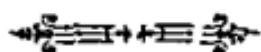
अब यह देखते हैं, कि सामायिक करने से क्या लाभ होता है? क्योंकि जब तक कार्य का फल ज्ञात नहीं होता, तब तक कार्य के प्रति रुचि नहीं होती और बिना रुचि का कार्य पूर्णता तक नहीं पहुँचता। इसलिए यह जानना आवश्यक है, कि सामायिक करने से लाभ क्या होता है?

सामायिक से क्या लाभ होता है, यह बताने के लिए श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में गुरु-शिष्य के संवाद रूप प्रश्नोत्तर किया गया है कि—

प्रश्न—सामाइएणं भंते जीवे किं जणयई?
उत्तर—सामाइएणं सावज्ज जोग विरइं जणयई।

इस प्रश्नोत्तर में शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्!

सामायिक से जीव को क्या लाभ होता है ? शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर में गुरु ने कहा कि सामायिक से जीव को सावद्य योग यानी पाप-प्रवृत्ति से दूर होने रूप महाफल की प्राप्ति होती है।

इस प्रश्नोत्तर में गीतार्थ गुरु ने जो उत्तर दिया, उसे उन महा प्रज्ञावान शिष्य ने समझ लिया होगा, लेकिन साधारण लोगों की समझ में वो उक्त उत्तर तभी आ सकता है, जब कुछ विशेष स्पष्टीकरण किया जावे। गुरु ने सामायिक का फल बताते हुए न तो देव-भव सम्बन्धी सुख का प्राप्त होना कहा है, न लब्धि आदि किसी सिद्धि का ही मिलना बताया है, कि जो इसी लोक में प्रत्यक्ष किया जा सके। इसलिए इस उत्तर का स्पष्टीकरण होना और भी आवश्यक है।

कार्य का फल देखने के लिए पहले यह देखना चाहिए, कि हमारा उद्देश्य क्या है ? इसके अनुसार सामायिक के लिए भी यह देखना उचित है, कि हम सामायिक किस उद्देश्य से करते हैं। आत्मा अनादिकाल से पौद्गलिक सुख से परिचित है और इस कारण पौद्गलिक सुख के साधन ही एकत्रित करता है। आत्मा जैसे जैसे पौद्गलिक सुख के साधन एकत्रित करता है, वैसे ही वैसे उन साधनों के साथ लगी हुई चिन्ता से घिर कर दुःखी होता जाता है। सामायिक ऐसे दुःख से छूटने के लिए ही की जाती है। वास्तव में पौद्गलिक साधनों में सुख होता, तो

छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी चक्रवर्ती को ऐसे साधनों की क्या कमी हो सकती है जो वे ऐसे साधनों को त्याग कर निकले, इससे यही स्पष्ट है कि पौद्गलिक साधनों में सुख नहीं है। इसलिए सामायिक इस प्रकार के साधन प्राप्त करने के लिए नहीं की जाती है, किन्तु जिस प्रकार बन्धन से जकड़ा हुआ आत्मा ज्ञान होने पर बन्धन मुक्त होने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार इस संसार की उपाधि से मुक्त होने के लिए ही सामायिक की जाती है। ऐसी दशा में सामायिक के फल स्वरूप इहलौकिक या पारलौकिक सुख सम्पदा चाहना या सामायिक के फल के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना करना भी सर्वथा अनुपयुक्त है। किसी आदमी ने शारीरिक सुख के लिए बढ़िया बढ़िया वस्त्र पहन रखे हों लेकिन उन वस्त्रों के कारण गर्मी लगने लगे और घबराहट होने लगे तब शान्ति तभी हो सकती है, जब वे वस्त्र उतार कर अलग कर दिये जावें। इसके विरुद्ध यदि अधिक वस्त्र शरीर पर लाद लिये गये तो उस दशा में गर्मी या घबराहट भी नहीं मिट सकती, न शान्ति ही हो सकती है। इसी के अनुसार जिन पौद्गलिक संयोगों के कारण आत्मा भारी हो रहा है, उन्हीं संयोगों में अधिक फँसने पर आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो उनका त्याग करने पर ही मिल सकती है।

कहना यह है कि सामायिक का फल इहलौकिक या पारलौकिक

नहीं है, किन्तु सामायिक का फल निर्जरा अथवा राग द्वेष रहित सम-भाव की प्राप्ति है। श्री दशवैकालिक सूत्र के नववें अध्ययन के चौथे उद्देशे में यह स्पष्ट कहा गया है, कि आत्म-कल्याण के लिए किये जाने वाले अनुष्ठान इहलौकिक सुख, पारलौकिक ऋद्धि, या कीर्त्ति श्लाघा, महिमा आदि के लिए नहीं, किन्तु केवल निर्जरा के लिए ही होने चाहिए। यही बात सामायिक के लिए भी है। आत्मा के लिए जो असमाधि के कारण हैं, उन सांसारिक उपाधियों से छूटने के लिए ही सामायिक की जाती है। इसलिए सामायिक का फल ऐसी उपाधियों के कारण होने वाली पाप प्रवृत्ति का त्याग ही है। यह फल, बहुत अंश में सामायिक ग्रहण करते ही प्रत्यक्ष हो जाता है। अर्थात् जिस समय सामयिक ग्रहण की जाती है, उसी समय आध्यात्मिक सुख में बाधक प्रवृत्तियों से छुटकारा मिल जाता है और समाधि का अनुभव होने लगता है। सांसारिक उपाधियों का छूटना ही सम-भाव है और सम-भाव की प्राप्ति ही सामायिक का फल है।

इस प्रकार सामायिक का फल तत्काल प्राप्त होता है। यदि सामायिक ग्रहण करते ही उक्त फल न मिला, समभाव न हुआ, आत्मा विषय-कषाय की आग से जलता ही रहा, पौद्गलिक सुखों की लालसा न मिटी, तो समझना कि अभी न तो हम विधिपूर्वक सामायिक ही ग्रहण कर सके हैं, न हमको सामायिक का फल

ही मिला है। जिस सामायिक का तात्कालिक फल प्राप्त नहीं हुआ है, उसका परम्परा पर प्राप्त होने वाला फल भी कैसे मिल सकता है। शास्त्रकारों ने स्पष्ट ही कह दिया है, कि इस आत्मा ने द्रव्य सामायिक बहुत की है और रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि उपकरण भी इतने धारण किये तथा त्यागे हैं कि एकत्रित करने पर उनका ढेर पर्वत की तरह हो सकता है, फिर भी उन सामायिकों या उपकरणों से आत्मा का कल्याण नहीं हुआ। इस असफलता का कारण सामायिक के तात्कालिक फल का न मिलना ही है। जिस सामायिक का तात्कालिक फल मिलता है, उसका परम्परा पर भी फल मिलता है और जिसका तात्कालिक फल नहीं मिलता उसका फल परम्परा पर भी नहीं मिलता।

लोग सामायिक के फल स्वरूप पौद्गलिक सुख चाहते हैं। यानी इस भव में धन, जन, प्रतिष्ठा आदि और पर-भव में इन्द्र अहमिन्द्रादि पद प्राप्त होने की इच्छा करते हैं। यदि यह मिला तब तो सामायिक आदि धर्म करणी को सफल समझते हैं, अन्यथा निष्फल मानते हैं। इस प्रकार विपरीत फल चाहने के कारण ही आत्मा अब तक सामायिक के वास्तविक फल से वंचित रहा है। यदि अब भी आत्मा की भावना ऐसी ही रही, आत्मा सामायिक के फल स्वरूप इसी तरह की सांसारिक सम्पदा चाहता रहा, तो आत्मा उस आध्यात्मिक लाभ से वंचित रहेगा ही, जिसके सामने

संसार की समस्त सम्पदा तुच्छ है। सामायिक के वास्तविक फल की तुलना में सांसारिक सम्पदा किस प्रकार तुच्छ है, यह बताने के लिए भगवान महावीर के समय की एक घटना का वर्णन किया जाता है।

एक समय मगधाधिप महाराजा श्रेणिक ने श्रमण भगवान महावीर से अपने भावी भव के सम्बन्ध में पूछा। वीतराग भगवान-महावीर को राजा श्रेणिक की प्रसन्नता अप्रसन्नता की कोई अपेक्षा न थी। इसलिए राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में, भगवान ने राजा श्रेणिक से कहा कि—राजन्! यहाँ का आयुष्य पूर्ण करके तुम रत्नप्रभा पृथ्वी यानी नरक में उत्पन्न होओगे। राजा श्रेणिक ने भगवान से फिर प्रश्न किया, कि प्रभो! क्या कोई ऐसा उपाय भी है, कि जिससे मैं नरक की यातना से बच सकूँ? भगवान ने उत्तर दिया कि उपाय तो अवश्य है, लेकिन यह उपाय तुम कर न सकोगे। जब श्रेणिक ने भगवान से उपाय बताने के लिए आग्रह किया तब भगवान ने उसे ऐसे चार उपाय बताये, जिनमें से किसी भी एक उपाय के करने पर वह नरक जाने से बच सकता था। उन चार उपायों में से एक उपाय पूनिया श्रावक की सामायिक लेना था।

महाराजा श्रेणिक पूनिया श्रावक के पास जाकर उससे बोला, कि भाई पूनिया! तुम मुझ से इच्छानुसार धन ले लो और उसके

बदले में मुझे अपनी सामायिक दे दो। राजा के इस कथन के उत्तर में पूनिया श्रावक ने कहा, कि सामायिक का क्या मूल्य हो सकता है, यह मैं नहीं जानता हूँ। इसलिए जिनने आपको मेरी सामायिक लेना बताया है, आप उन्हीं से सामायिक का मूल्य जान लीजिये।

राजा श्रेणिक फिर भगवान महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने भगवान को पूनिया श्रावक का कथन सुनाकर पूछा, कि पूनिया श्रावक की सामायिक का क्या मूल्य हो सकता है? भगवान ने राजा श्रेणिक से पूछा, कि तुम्हारे पास इतना सोना है, कि जिसकी छप्पन पहाड़ियाँ (डुंगरियाँ) बन जावें, परन्तु इतना धन तो सामायिक की दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं है। फिर सामायिक का मूल्य कहाँ से दोगे? भगवान का यह कथन सुनकर, राजा श्रेणिक चुप हो गया।

यह घटना इसी रूप में घटी हो या दूसरे रूप में या कथानक की कल्पना मात्र ही हो किन्तु बताना यह है, कि सामायिक के फल के सामने सांसारिक सम्पदा तुच्छ है, फिर वह कितनी और कैसी भी क्यों न हो!

सामायिक की सफलता-निष्फलता को सामायिक करने वाला स्वयं ही जान सकता है। कोई निन्दा करे या प्रशंसा करे, गाली दे या धन्यवाद दे, मारे पीटे या छाया करे, धन हरण करे या

प्रदान करने लगे, फिर भी अपने मन में किसी भी प्रकार का विषम भाव न लावे, राग द्वेष न होने दे, किसी को प्रिय अप्रिय न माने, हृदय में हर्ष शोक न होने दे, किन्तु अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्थिति को समान माने, दुःख से छूटने या सुख प्राप्त करने का प्रयत्न न करे, यह माने कि ये पौद्गलिक संयोग वियोग आत्मा से भिन्न हैं और आत्मा इनसे भिन्न है, इन संयोग वियोग से न तो आत्मा का हित ही हो सकता है न अहित ही, ऐसा सोच कर जो समभाव में स्थिर रहते हैं, उन्हीं की सामायिक सफल है। इस प्रकार जिनमें आत्म दृढ़ता है, वे ही सामायिक को सफल बना सकते हैं। इसके विरुद्ध जिनकी आत्मा कमजोर है, वे लोग थोड़ा दुःख होते ही घबरा कर और थोड़ा सुख होते ही प्रसन्न होकर सामायिक के ध्येय को भूल जाते हैं वे सामायिक को सफल नहीं बना सकते। जिनकी आत्मा दृढ़ है, वे लोग यह भावना रखते हैं, कि—

होकर सुख में मग्न न फूलूँ, दुःख में कभी न घबराऊँ।
पर्वत नदी स्मशान भयंकर, अटवी से नहिं भय खाऊँ॥
रहूँ सदा अडोल अकम्पित, यह मन दृढ़तर बन जावे।
इष्ट वियोग अनिष्ट योग में, सहन शीलता दिखलावे॥

जो इस प्रकार की भावना रखता है और ऐसी भावना को कार्यान्वित करता है, वही प्रत्येक स्थिति में समभावी रह सकता है और सामायिक का फल प्राप्त करता है।

यह तो हुई सामायिक का फल आप ही जानने की बात। इस बात के साथ ही सामायिक करने वाले को संसार में अपना बाह्य व्यवहार भी ऐसा रखना चाहिए, कि जिससे सामायिक का फल प्राप्त होना जाना जा सके। इसके लिए उन कामों से सदा बचे रहना चाहिए, जो आत्मा में विषम-भाव उत्पन्न करते हैं। यद्यपि संसार-व्यवहार में रहे हुए व्यक्ति के लिए हिंसा, झूठ आदि का सर्वथा त्याग करना कठिन है, फिर भी सामायिक करने वाले श्रावक का लक्ष्य यही होना चाहिए, कि मैं अन्य समय में भी हिंसा, झूठ आदि से जितना भी बच सकूँ, उतना ही अच्छा है। इस बात को लक्ष्य में रखकर श्रावक को उन कामों से सदा बचे रहना चाहिए कि जिन कामों से इस लोक में अपयश अपकीर्ति होती है और परलोक बिगड़ता है।

कई लोग समझते हैं कि 'हम संसार व्यवहार में चाहे जो कुछ करें, हिंसा, झूँठ, चोरी आदि पाप कार्य का कितना भी आचरण करें, सामायिक कर लेने पर वे सब पाप नष्ट हो जाते हैं और हम पाप-मुक्त हो जाते हैं। संसार-व्यवहार तो पापपूर्ण ही है। पाप किये बिना संसार व्यवहार चल नहीं सकता।' इस तरह समझने के कारण कई लोग कृत पाप से मुक्ति पाने के लिए ही सामायिक करते हैं किन्तु पाप-कार्य का त्याग आवश्यक नहीं मानते हैं। लेकिन इस तरह की समझ वाले लोगों ने सामायिक करने का उद्देश्य नहीं समझा है, न उन्हें सामायिक का फल ही ज्ञात है।

ज्ञानियों का कथन है, कि जो लोग कृत-पाप से मुक्ति पाने के लिए सामायिक करते हैं अर्थात् पाप-कार्य का त्याग न करके सामायिक द्वारा पाप के फल से बचना चाहते हैं, वे लोग वास्तव में सामायिक नहीं करते हैं, किन्तु धर्म ठगाई करते हैं। ऐसे व्यक्ति संसार से धर्म का अपमान कराते हैं और सामायिक का महत्व घटाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु वे लोग अपने को अधिक पाप में फँसाते हैं। सामायिक से पाप नष्ट हो जाते हैं या पाप का फल नहीं भोगना पड़ता, ऐसी मान्यता वाले लोग पाप-कर्म करने की ओर से निर्भय हो जाते हैं और पुनः पुनः पाप करते हैं। इसलिए इस तरह की मान्यता त्याज्य है। सामायिक करनेवाले का उद्देश्य पाप-कार्य से बचते रहना ही होना चाहिए। उसकी भावना यह रहनी चाहिए, कि सामायिक के समय ही नहीं, किन्तु संसार व्यवहार के समय भी मुझे आत्मा को विस्मृत न होना चाहिए और यदि मुझे आरम्भादि में प्रवृत्त होना पड़े, तो उन कार्यों में गृद्धि या मूर्छा न रखकर इस तरह का विवेक रखना चाहिए, कि जिसमें आस्रव के स्थान पर भी संवर निपजे। जो लोग ऐसी भावना रखते हैं और ऐसी भावना को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते हैं, उन्हीं का सामायिक करना सफल है और उन्होंने सामायिक करने का उद्देश्य भी समझा है। जिसमें इस तरह की भावना नहीं है, अथवा जो ऐसी भावना को कार्यान्वित करने का प्रयत्न नहीं करता है, उसने

सामायिक का उद्देश्य भी नहीं समझा है, न उसकी सामायिक ही सफल हो सकती है। ऐसे व्यक्ति का सामायिक करना, केवल प्रशंसा या प्रतिष्ठा के लिए अथवा धर्म-ठगाई के लिए स्वार्थ-साधन के लिए चाहे हो, सामायिक के वास्तविक फल के लिए नहीं है।

कई पूर्वाचार्य, सामायिक के फल स्वरूप कई पल्योपम या सागरोपम के नरक का आयुष्य टूटना और देवता का आयुष्य बंधना बताते हैं। किसी अपेक्षा से यह बात ठीक भी हो सकती है, लेकिन इस फल की कामना के बिना जो सामायिक की जाती है, उसका फल बहुत ज्यादा है। इसलिए सामायिक इस तरह के पारलौकिक फल की कामना रखकर करना ठीक नहीं है, किन्तु इसलिए करनी चाहिए, कि मेरा आत्मा सदा जागृत रहे और पाप से बचा रहे। जिस प्रकार घड़ी में एक बार चाबी देने पर वह किसी नियत समय तक बराबर चला करती है, इसी तरह सामायिक करने वाले को भी एक बार सामायिक करने के पश्चात् पाप कर्म से सदा बचते रहना चाहिए, तथा संसार व्यवहार में भी समाधि भाव रखना चाहिए, किसी पारलौकिक या इहलौकिक फल की लालसा न करनी चाहिए। ऐसे फल की लालसा से, सामायिक का महत्व घट जाता है। इसके विरुद्ध जो सामायिक ऐसे फल की लालसा के बिना केवल आत्मशुद्धि के लिए ही की जाती है, उसका महत्व बहुत अधिक है।

सामायिक कैसी हो

सामायिक इस तरह करनी चाहिए कि जिससे दूसरे के हृदय में सामायिक के प्रति श्रद्धा हो और दूसरे लोग सामायिक करने के लिए उद्यत हों। सामायिक करने के लिए सब से पहले भूमिका की शुद्धि होना आवश्यक है। यदि भूमि शुद्ध होती है तो उसमें बोया हुआ बीज भी फल-दायक होता है। इसके विरुद्ध जो भूमि शुद्ध नहीं है तो उसमें बोया गया बीज भी सुन्दर और सुस्वादु फल कैसे दे सकता है! इसके अनुसार सामायिक के लिए भी भूमिका की शुद्धि आवश्यक है। सामायिक के लिए चार प्रकार की शुद्धि आवश्यक है, द्रव्य शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि, काल शुद्धि और भाव शुद्धि। इन शुद्धि के साथ जो सामायिक की

जाती है, वही सामायिक पूर्ण फलदायिनी हो सकती है। इन चारों तरह की शुद्धि की भी थोड़े में व्याख्या की जाती है।

१ द्रव्य शुद्धि—सामायिक के लिए जो द्रव्य जैसे भंडोपकरण, वस्त्र, पुस्तक आदि आवश्यक हैं उनका शुद्ध होना भी जरुरी है। भंडोपकरण यानी मुँहपत्ती, आसन, रजोहरण, (पूँजनी) माला (सुमरनी) आदि ऐसे हों, जिनसे किसी प्रकार की अयत्ना न हो। ये उपकरण जीवों की यत्ना (रक्षा) के उद्देश्य से ही रखे जाते हैं, इसलिए ऐसे होने चाहिएँ कि जिनके द्वारा जीवों की यत्ना हो सके।

कई लोग सामायिक में ऐसे आसन रखते हैं जो रूवें वाले या सिये हुए होते हैं, अथवा सुन्दरता के लिए रंग-बिरंगे टुकड़ों को जोड़ कर बनाये गए होते हैं। ऐसे आसन का भली-भांति प्रतिलेखन नहीं हो सकता। इसलिए आसन ऐसा होना ही अच्छा है, जो साफ हो, बिना सिया हुआ एक ही टुकड़े का हो, बहुरंगा न हो, न विकारोत्पादक भड़कीला ही हो, किन्तु सादा हो। इसी प्रकार पूँजनी और माला भी सादी तथा ऐसी होनी चाहिएँ, कि जिनसे जीवों की यत्ना हो, किन्तु अयत्ना न हो। कई लोगों के पास ऐसी पूँजनियें होती हैं, जो केवल शोभा के लिए ही होती हैं, जिनसे सुविधा पूर्वक पूँजा नहीं जा सकता। इस तरह के उपकरण शुद्ध नहीं कहे जा सकते। पूँजनी सादी होनी चाहिए

तथा ऐसी होनी चाहिए कि जिससे भली-प्रकार पूँजा जा सके। इसी तरह माला भी ऐसी हो कि जिसे फिराने पर किसी तरह अयत्ना न हो। वस्त्र भी सादे एवं स्वच्छ होने चाहिएँ। ऐसे चमकीले भड़कीले न होने चाहिएँ कि जिनसे अपने या दूसरे के चित्त में किसी प्रकार की अशान्ति हो, न ऐसे गन्दे हो हों कि जिनके कारण दूसरे को घृणा हो अथवा जिन पर मक्खियाँ भिनभिनाती हों। पुस्तकें भी ऐसी हों, जो आत्मा की ज्योति को प्रदीप्त करें। जिनसे किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो ऐसी पुस्तकें न होनी चाहिएँ।

२ क्षेत्र शुद्धि—क्षेत्र से मतलब उस स्थान से है, जहाँ सामायिक करने के लिए बैठना है, या बैठा है। ऐसा स्थान भी शुद्ध होना आवश्यक है। जिस स्थान पर बैठने से विचार-धारा टूटती हो, चित्त में चंचलता आती हो, अधिक स्त्री-पुरुष या पशु-पक्षी का आवागमन अथवा निवास हो, विषय-विकार उत्पन्न करने वाले शब्द कान में पड़ते हों, दृष्टि में विकार आता हो, या क्लेश उत्पन्न होने की सम्भावना हो, उस स्थान पर सामायिक करने के लिए बैठना ठीक नहीं है। सामायिक करने के लिए वही स्थान उपयुक्त हो सकता है, जहाँ चित्त स्थिर रह सके, आत्मचिंतन किया जा सके, गुरु महाराज या स्वधर्मी बन्धुओं का सामिप्य हो जिससे ज्ञान की वृद्धि हो सके। इस तरह के स्थान पर सामायिक करना

क्षेत्र-शुद्धि है। आत्मा को उच्च दशा में पहुँचाने वाले साधनों में क्षेत्र शुद्धि भी एक है।

३ काल शुद्धि—काल से मतलब है समय। समय का विचार रखकर जो सामायिक की जाती है, वह सामायिक निर्विघ्न और शुद्ध होती है। समय का विचार न रखकर सामायिक करके बैठने पर, सामायिक में अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प होते हैं और चित्त शान्त नहीं रहता है। इसलिए सामायिक का काल भी शुद्ध होना चाहिए।

४ भाव शुद्धि—भाव शुद्धि से मतलब है मन, वचन और काय की एकाग्रता। मन, वचन, काय के योग की एकाग्रता जिन दोषों से नष्ट होती है, उन दोषों का त्याग करना, भाव शुद्धि है। भाव शुद्धि के लिए उन दोषों को जानना और उनसे बचना आवश्यक है जो दोष मन, वचन, काय के योग की एकाग्रता भंग करते हैं।

इन चारों तरह की शुद्धि के साथ ही सामायिक बत्तीस दोषों से रहित होनी चाहिए। किन कार्यों से सामायिक दूषित होती है और कौन से दोष सामायिक का महत्व घटाते हैं यह नीचे बताया जाता है।

अविवेक जस्सो कित्ती लाभत्थी गव्व भय नियाणत्थी।
संसय रोस अविणउ अबहुमाणए दोसा भणियव्वा॥

१ अविवेक—सामायिक के सम्बन्ध में विवेक न रखना,

कार्य के औचित्य-अनौचित्य अथवा समय-असमय का ध्यान न रखना 'अविवेक' नाम का पहिला दोष है।

२ यश-कीर्त्ति—सामायिक करने से मुझे यश प्राप्त होगा, अथवा मेरी प्रतिष्ठा होगी, समाज में मेरा आदर होगा, या लोग मेरे को धर्मात्मा कहेंगे आदि विचार से सामायिक करना 'यश-कीर्त्ति' नाम का दूसरा दोष है।

३ लाभार्थ—धन आदि के लाभ की इच्छा से सामायिक करना 'लाभार्थ' नाम का तीसरा दोष है। जैसे इस विचार से सामायिक करना कि सामायिक करने से व्यापार में अच्छा लाभ होता है, 'लाभार्थ' नाम का दोष है।

४ गर्व—सामायिक के सम्बन्ध में यह अभिमान करना, कि मैं बहुत सामायिक करने वाला हूँ, मेरी तरह या मेरे बराबर कौन सामायिक कर सकता है, या मैं कुलीन हूँ आदि गर्व करना 'गर्व' नाम का चौथा दोष है।

५ भय—किसी प्रकार के भय के कारण, जैसे राज्य, पंच या लेनदार आदि से बचने के लिए सामायिक करके बैठ जाना 'भय' नाम का पाँचवाँ दोष है।

६ निदान—सामायिक का कोई भौतिक फल चाहना 'निदान' नाम का छठा दोष है। जैसे, यह संकल्प करके सामायिक करना, कि मेरे को अमुक पदार्थ या सुख मिले, अथवा

सामायिक करके यह चाहना कि यह मैंने जो सामायिक की है, उसके फल स्वरूप मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो 'निदान' दोष है।

७ सन्देह—सामायिक के फल के सम्बन्ध में सन्देह रखना 'सन्देह' नाम का सातवाँ दोष है। जैसे यह सोचना कि मैं जो सामायिक करता हूँ, मुझे उसका कोई फल मिलेगा या नहीं, अथवा मैंने इतनी सामायिक की, फिर भी मुझे कोई फल नहीं मिला आदि सामायिक के फल के सम्बन्ध में सन्देह रखना, 'सन्देह' नाम का सातवाँ दोष है।

८ कषाय—राग द्वेषादि के कारण सामायिक में क्रोध, मान, माया, लोभ करना 'कषाय' नाम का आठवाँ दोष है।

९ अविनय—सामायिक के प्रति विनय-भाव न रखना, अथवा सामायिक में देव, गुरु, धर्म की असातना करना, उनका विनय न करना 'अविनय' नाम का नववाँ दोष है।

१० अबहुमान—सामायिक के प्रति जो आदरभाव होना चाहिए, उस आदरभाव के बिना किसी दबाव से या किसी प्रेरणा से बेगारी की तरह सामायिक करना 'अबहुमान' नाम का दसवाँ दोष है।

ये दसों दोष मन के द्वारा लगते हैं। इन दस दोषों से बचने पर सामायिक के लिए मन शुद्धि होती है और मन एकाग्र रहता है।

कुवयण सहसाकारे सछंद संखेय कलहं च ।
विग्गहा वि हासोऽशुद्धं निरवेक्खो मुणमुणा दोसादस ॥

१ कुवचन—सामायिक में कुत्सित वचन बोलना 'कुवचन' नाम का दोष है ।

२ सहसाकार—बिना विचारे सहसा इस तरह बोलना, कि जिससे दूसरे को हानि हो और सत्य भंग हो तथा व्यवहार में अप्रतीति हो, 'सहसाकार' नाम का दोष है ।

३ सच्छन्द—सामायिक में ऐसे गीत गाना, जिससे अपने या दूसरे में कामवृद्धि हो, 'सच्छन्द' दोष है ।

४ संक्षेप—सामायिक के पाठ या वाक्य को थोड़ा करके बोलना, 'संक्षेप' दोष है ।

५ कलह—सामायिक में कलहोत्पादक वचन बोलना, 'कलह' दोष है ।

६ विकथा—बिना किसी सदुद्देश्य के स्त्री-कथा आदि चार विकथा करना, 'विकथा' दोष है ।

७ हास्य—सामायिक में हँसना, कौतूहल करना अथवा व्यंग पूर्ण शब्द बोलना, 'हास्य दोष' है ।

८ अशुद्ध—सामायिक का पाठ जल्दी जल्दी शुद्धि का ध्यान रखे बिना बोलना या अशुद्ध बोलना 'अशुद्ध' दोष है ।

९ निरपेक्ष—सामायिक में बिना सावधानी रखे बोलना 'निरपेक्ष' दोष है ।

१० मुम्मन—सामायिक के पाठ आदि का स्पष्ट उच्चारण न करना किन्तु गुनगुन बोलना 'मुम्मन' दोष है।

ये दस दोष वचन सम्बन्धी हैं। इन दस दोषों से बचना वचन शुद्धि है।

> कुआसणं चलासणं चलादिट्ठी,
> सावज्ज किरिया लंबणा कुंचण पसारणं।
> आलस्समोडन मलविणासणं,
> निद्दा वेयावच्चति बारस काय दोसा ॥

१ कुआसन—कुआसन बैठना जैसे पाँव पर पाँव चढ़ कर आदि 'कुआसन' दोष है।

२ चलासन—स्थिर आसन न बैठ कर बार-बार आसन बदलना, 'चलासन' दोष है।

३ चल दृष्टि—दृष्टि को स्थिर न रखना, बार-बार इधर उधर देखना 'चल दृष्टि' दोष है।

४ सावद्य क्रिया—शरीर से सावद्य क्रिया करना, इशारा करना या घर की रखवाली करना, 'सावद्य क्रिया' दोष है।

५ आलम्बन—बिना किसी कारण के दीवाल आदि का सहारा लेकर बैठना, 'आलम्बन' दोष है।

६ अकुंचन पसारन—बिना प्रयोजन ही हाथ पाँव फैलाना समेटना, 'अकुंचन पसारन' दोष है।

७ आलस्य—सामायिक में बैठे हुए आलस्य मोड़ना 'आलस्य' दोष है।

८ मोड़न—सामायिक में बैठे हुए हाथ पैर की उँगलियाँ चटकाना 'मोड़न' दोष है।

९ मल दोष—सामायिक में बैठे हुए शरीर पर से मैल उतारना 'मल' दोष है।

१० विमासन—गले में हाथ लगा कर शोक-ग्रस्त की तरह बैठना, अथवा बिना पूँजे शरीर खुजलाना या चलना 'विमासन' दोष है।

११ निद्रा—सामायिक में बैठे हुए निद्रा लेना, 'निद्रा' दोष है।

१२ वैयावृत्य अथवा कम्पन—सामायिक में बैठे हुए निष्कारण ही दूसरे से व्यावच कराना 'वैयावृत्य' दोष है और स्वाध्याय करते हुए घूमना यानी हिलना या शीत-ऊष्ण के कारण काँपना 'कम्पन' दोष है।

ये बारह दोष काय के हैं। इन दोषों को टालने से काय शुद्धि होती है। मन, वचन और काय के दोष ऊपर बताये गये हैं, इन सब से बचना, भाव शुद्धि है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चारों की शुद्धि से सामायिक के लिए शुद्ध भूमिका होती है।

१० मुम्मन—सामायिक के पाठ आदि का स्पष्ट उच्चारण न करना किन्तु गुनगुन बोलना 'मुम्मन' दोष है।

ये दस दोष वचन सम्बन्धी हैं। इन दस दोषों से बचना वचन शुद्धि है।

> कुआसणं चलासणं चलादिट्ठी,
> सावज्ज किरिया लंबणा कुंचण पसारणं।
> आलस्समोडन मलविणासणं,
> निद्दा वेयावच्चत्ति बारस काय दोसा॥

१ कुआसन—कुआसन बैठना जैसे पाँव पर पाँव चढ़ा कर आदि 'कुआसन' दोष है।

२ चलासन—स्थिर आसन न बैठ कर बार-बार आसन बदलना, 'चलासन' दोष है।

३ चल दृष्टि—दृष्टि को स्थिर न रखना, बार-बार इधर उधर देखना 'चल दृष्टि' दोष है।

४ सावद्य क्रिया—शरीर से सावद्य किया करना, इशारा करना या घर की रखवाली करना, 'सावद्य क्रिया' दोष है।

५ आलम्बन—बिना किसी कारण के दीवाल आदि का सहारा लेकर बैठना, 'आलम्बन' दोष है।

६ अकुंचन पसारन—बिना प्रयोजन ही हाथ पाँव फैलाना समेटना, 'अकुंचन पसारन' दोष है।

कायोत्सर्ग में रहने पर शरीर की प्राकृतिक क्रियाओं के होने पर भी कायोत्सर्ग अभंग रहने के लिए, कायोत्सर्ग के नियमों का स्मरण 'तस्स उत्तरी' पाठ द्वारा करके यह प्रतिज्ञा करे, कि मेरा कायोत्सर्ग तब तक अभंग रहे, जब तक मैं 'अरिहन्त भगवान को नमस्कार रूप' वाक्य न बोलूँ। 'तस्स उत्तरी'* पाठ पूर्ण होते ही, कायोत्सर्ग करके उन दोषों को विशेष रूप से स्मरण करके आलोचना करे, जो जीवों की विराधना रूप हुए हों।

कायोत्सर्ग समाप्त होने पर आत्मा को शुद्ध दशा में स्थिर करने के लिए 'लोगस्स सूत्र' का पाठ पढ़े, जिससे आत्मा में जागृति हो और आत्मा सामायिक ग्रहण करने के योग्य बने। आत्मा में जागृति लाने और आत्मा को ध्येय-साधन के योग्य बनाने का एक मात्र साधन परमात्मा की प्रार्थना करना ही है।

'लोगस्स सूत्र' का पाठ बोल कर, सामायिक की प्रतिज्ञा स्वरूप 'करेमि भंते' पाठ बोल कर, सामायिक स्वीकार करे। यह करके, फिर परमात्मा की प्रार्थना स्वरूप 'शक्रस्तव' (नमोत्थुणं) दो बार बोल कर 'सिद्ध तथा अरिहन्त' भगवान को नमस्कार करे।

बहुत से लोग सामायिक द्वारा आत्म-ज्योति जगाने के लिए

---

* अन्य दर्शनों में समाधि के लिए शरीर की प्राकृतिक क्रियाओं को रोकने का विधान है लेकिन जैन-दर्शन में शरीर की प्राकृतिक क्रियाओं को बिना रोके ही समाधि प्राप्त करने का विधान है। —सम्पादक।

विशुद्ध भूमिका में पड़ा हुआ बीज ही निरोग अंकुर देता है और जो वृक्ष निरोग है, वही फलद्रुप भी होता है।

सामायिक की भूमिका की विशुद्धि के पश्चात् सामायिक ग्रहण करने की विधि का भी पूरी तरह पालन होना चाहिए। सामायिक ग्रहण करने के लिए तत्पर व्यक्ति को अपने शरीर पर एक धोती और एक ओढ़ने का वस्त्र, इन दो वस्त्रों के सिवाय और कोई वस्त्र न रखना चाहिए, किन्तु सिले हुए वस्त्र जैसे कोट, कुर्त्ता आदि और सिर पर जो वस्त्र हों, चाहे वह टोपी हो, पगड़ी हो, या साफा हो, त्याग देना चाहिए यानी उतार कर अलग रख देना चाहिए। पश्चात् सामायिक के लिए उपयोगी उपकरण जैसे रजोहरण, मुखवस्त्रिका और आसन आदि ग्रहण करके, उस भूमि को प्रमार्जित करना चाहिए, जहाँ बैठ कर सामायिक करना है। भूमि प्रमार्जन करके प्रमार्जित भूमि पर आसन बिछा, मुँहपत्ती बान्ध लेनी चाहिये और फिर नमस्कार मन्त्र का स्मरण करना चाहिए। नमस्कार मन्त्र का स्मरण करने के पश्चात्, गुरु महाराज को वन्दन करके उनसे सामायिक करने की आज्ञा माँगनी चाहिए।

यह सब हो जाने पर सामायिक करने से पहिले जीवों की अपने द्वारा जो विराधना हुई है, उसका ईरिया पथिक पाठ द्वारा स्मरण करना चाहिए और विशेष स्मरण करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग का उद्देश्य, कायोत्सर्ग करने की विधि और

जलती हुई आग रख कर भी कोई व्यक्ति कढ़ाई में भरे हुए दूध में उफान न आने देना चाहे, तो यह कैसे सम्भव है। दूध के नीचे प्रज्वलित आग होने पर, दूध शान्त नहीं रह सकता, किन्तु उफान खावेगा ही। इसी तरह जब तक भोग्योपभोग्य पदार्थ के प्रति मन में आसक्ति है, ममत्व है, तब तक चित्त स्थिर कैसे हो सकता है। चित्त को शान्त अथवा स्थिर करने के लिए यह आवश्यक है, कि जिससे चित्त अशान्त रहता है, उन भोग्योपभोग्य पदार्थ का ममत्व त्याग दे और इस ओर अधिक से अधिक गति करे। शास्त्रकारों ने इसीलिये सामायिक से पहिले वे आठ व्रत बताये हैं, जिनको स्वीकार करने पर इच्छा या वासना सीमित हो जाती है तथा चित्त की अशान्ति मिटती है। उन आठ व्रतों के पश्चात् सामायिक का नववां व्रत बताया है। शास्त्रकारों द्वारा बताये गये सामायिक के पहिले के आठ व्रतों को जो भव्य जीव स्वीकार करते हैं, उनकी वासना भी सीमित हो जाती है और उनमें अर्थ-अनर्थ तथा कृत्या-कृत्य का विवेक भी जागृत रहता है। इससे वे विवेकी जीव, उपयोग सहित सामायिक की विधि का पालन करने और सामायिक के समय चित्त स्थिर रखने में समर्थ होते हैं।

इस तरह की शुद्धि के साथ ही, सामायिक में चित्त स्थिर रखने के लिए खान पान और रहन-सहन का शुद्ध होना भी आवश्यक है। इसलिए भूमिका शुद्ध करके सामायिक करने पर

सामायिक की विधि पूरी नहीं करते, और यदि करते भी हैं तो उपयोग-रहित होकर सामायिक का पाठ बोल कर सामायिक ग्रहण करते हैं। विधि और उपयोग के अभाव के कारण, चित्त का स्थिर न रहना स्वाभाविक है, और तब कहते हैं, कि सामायिक में हमारा चित्त तो स्थिर रहता ही नहीं है, हम सामायिक करके क्या करें! ऐसे लोगों की समझ में यह नहीं आता, कि जब हमने सामायिक की विधि का पालन ही उपयोग पूर्वक नहीं किया है तब सामायिक में हमारा चित्त लगे तो कैसे! चित्त बिना प्रयत्न के तो स्थिर होता नहीं है। इसके लिए प्रयत्न का होना आवश्यक है और सामायिक में चित्त को स्थिर करने का पहिला प्रयत्न उपयोग सहित सामायिक की विधि का पालन करना है।

चित्त की स्थिरता का आधार, इच्छा-वासना की उपशमता पर भी है। जिसकी इच्छा-वासना जितने अंश में उपशम होगी या होती जावेगी, भोग्योपभोग्य के साधनों के प्रति विरक्ति बढ़ती जावेगी, उतने ही अंश में चित्त भी स्थिर रहेगा। इसलिए यदि सामायिक में चित्त को स्थिर रखना है, तो उन कारणों को खोज कर मिटाना आवश्यक है, जो कारण चित्त में अशान्ति उत्पन्न करने वाले हैं। जो मनुष्य चूल्हे पर चढ़ी हुई कढ़ाई में के दूध को शान्त रखना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह कढ़ाई के नीचे जो आग जल रही है उसे अलग कर दे। कढ़ाई के नीचे

ऐसा कोई कारण न जान पड़ा, जो सामायिक में चित्त को स्थिर न रहने दे! अन्त में उसने विचार किया, कि मैं अपनी पत्नी से तो पूछ देखूँ, कि उसने तो कोई ऐसा कार्य नहीं किया है, जिसके कारण मेरा चित्त सामायिक में नहीं लगता है! इस तरह विचार कर, उसने अपनी पत्नी को बुला उससे कहा, कि आज सामायिक में मेरा चित्त अस्थिर रहा, स्थिर नहीं हुआ। मैंने अपने कार्य एवं खान-पान की आलोचना की, फिर भी ऐसा कोई कारण न जान पड़ा, जिससे चित्त में अस्थिरता आवे। क्या तुमसे कोई ऐसा कार्य हुवा है, जिसका प्रभाव मेरे खान-पान पर पड़ा हो और मेरा चित्त सामायिक में अस्थिर रहा हो।

उस श्रावक की पत्नी भी धर्मपरायणा श्राविका थी। पति का कथन सुनकर उसने भी अपने सब कार्यों की आलोचना की। पश्चात् वह अपने पति से कहने लगी, कि मुझ से दूसरी तो कोई ऐसी त्रुटि नहीं हुई है, जिसके कारण आपके खान-पान में दूषण आवे और आपका चित्त सामायिक में न लगे, लेकिन एक त्रुटि अवश्य हुई है। हो सकता है, कि मेरी उस त्रुटि का ही यह [illegible]म हो, कि आपका चित्त सामायिक में न लगा हो। मेरे [illegible] आग नहीं रही थी। मैं, भोजन बनाने के लिए चूल्हा [illegible]सिन के यहाँ आग लेने गई। जब मैं [illegible] पहुँची, तब मुझे याद आया कि मैं

भी जब कभी सामायिक में चित्त न लगे, तब अपने खान-पा और रहन-सहन की आलोचना करके, चित्त स्थिर न रहने कारण की खोज करनी चाहिए और उस कारण को मिटान चाहिए। खान-पान और रहन-सहन की छोटी-सी अशुद्धि मे चित्त को किस प्रकार अस्थिर बना देती है, और चतुर श्राव उस अशुद्धि को किस प्रकार मिटाता है, यह बताने के लिए ए कथित घटना का उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

एक धर्म निष्ठ श्रावक था। वह नियमित रूप में सामायिक किया करता था और इसके लिए उन सब नियमोपनियम का भली प्रकार पालन करता था, जिनका पालन करने पर शुद्ध रीति से सामायिक होती है, अथवा सामायिक करने का उद्देश्य पूर होता है।

एक दिन वह श्रावक, नित्य की तरह सामायिक करने के लिए बैठा। नित्य तो उसका चित्त सामायिक में लगता था परन्तु उस दिन उसके चित्त की चंचलता न मिटी। उसने अपने चित्त को स्थिर करने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन सब व्यर्थ। वह सोचने लगा, कि आज ऐसा कौन-सा कारण हुआ है, जिससे मेरा चित्त सामायिक में नहीं लगता है, किन्तु इधर-उधर भागा हो फिरता है! इस तरह सोच कर, उसने अपने सब कार्यों की आलोचना की, अपने खान-पान की आलोचना की, किन्तु उसे

ऐसा कोई कारण न जान पड़ा, जो सामायिक में चित्त को स्थिर न रहने दे! अन्त में उसने विचार किया, कि मैं अपनी पत्नी से तो पूछ देखूँ, कि उसने तो कोई ऐसा कार्य नहीं किया है, जिसके कारण मेरा चित्त सामायिक में नहीं लगता है! इस तरह विचार कर, उसने अपनी पत्नी को बुला उससे कहा, कि आज सामायिक में मेरा चित्त अस्थिर रहा, स्थिर नहीं हुआ। मैंने अपने कार्य एवं खान-पान की आलोचना की, फिर भी ऐसा कोई कारण न जान पड़ा, जिससे चित्त में अस्थिरता आवे। क्या तुमसे कोई ऐसा कार्य हुवा है, जिसका प्रभाव मेरे खान-पान पर पड़ा हो और मेरा चित्त सामायिक में अस्थिर रहा हो।

उस श्रावक की पत्नी भी धर्मपरायणा श्राविका थी। पति का कथन सुनकर उसने भी अपने सब कार्यों की आलोचना की। पश्चात् वह अपने पति से कहने लगी, कि मुझ से दूसरी तो कोई ऐसी त्रुटि नहीं हुई है, जिसके कारण आपके खान-पान में दूषण आवे और आपका चित्त सामायिक में न लगे, लेकिन एक त्रुटि अवश्य हुई है। हो सकता है, कि मेरी उस त्रुटि का ही यह परिणाम हो, कि आपका चित्त सामायिक में न लगा हो। मेरे घर में आज आग नहीं रही थी। मैं, भोजन बनाने के लिए चूल्हा सुलगाने के वास्ते पड़ोसिन के यहाँ आग लेने गई। जब मैं पड़ोसिन के घर के द्वार पर पहुँची, तब मुझे याद आया कि मैं

आग ले जाने के लिए तो कुछ लाई नहीं, फिर आग किसमें ले जाऊँगी ! मैं आग लाने के लिए कंडा ले जाना भूल गई थी। पड़ोसिन के द्वार पर कुछ कंडे पड़े हुए थे। मैंने, सहज भाव से उन कंडों में से एक कंडा उठा लिया, और पड़ोसिन के यहाँ से उस कंडे पर आग लेकर अपने घर आई। मैंने, आग जलाकर भोजन बनाया। पड़ोसिन के द्वार पर से पड़ोसिन की स्वीकृति बिना ही मैं जो कण्डा उठा कर लाई थी, उस कण्डे को भी, मैंने भोजन बनाते समय चूल्हे में जला दिया। पड़ोसिन के घर से मैं बिना पूछे जो कण्डा लाई थी, वह कण्डा चोरी या बे-हक का था। इसलिए हो सकता है कि मेरे इस कार्य के कारण ही आपका चित्त सामायिक में न लगा हो। क्योंकि उस कण्डे को जलाकर बनाया गया भोजन आपने भी किया था।

पत्नी का कथन सुनकर श्रावक ने कहा कि बस ठीक है! उस कण्डे के कारण ही आज मेरा चित्त सामायिक में नहीं लगा। क्योंकि वह कण्डा अन्यायोपार्जित था। अन्यायोपार्जित वस्तु या उसके द्वारा बनाया गया भोजन जब पेट में हो, तब चित्त स्थिर कैसे रह सकता है। अब तुम पड़ोसिन को एक के बदले दो कण्डे वापस करो, उससे क्षमा माँगो और इस पाप का प्रायश्चित करो। श्राविका ने ऐसा ही किया। यह कथानक या घटना ऐसी ही घटी हो या रूपक मात्र हो इसका मतलब तो यह है कि जो द्र

सामायिक करना चाहता है, उसको अपना खान-पान और रहन-सहन भी शुद्ध रखना चाहिए और जब भी सामायिक में चित्त न लगे, अपने खान-पान और रहन-सहन की आलोचना करके अशुद्धि मिटानी चाहिए। जिस व्यक्ति का जैसा आहार-विहार है, उसका चित्त भी वैसा ही रहेगा। यदि आहार-विहार शुद्ध है, तो चित्त स्थिर रहेगा, लेकिन यदि शुद्ध नहीं है, तो उस दशा में सामायिक में चित्त स्थिर कैसे रह सकता है!

सामायिक में बैठे हुए व्यक्ति को शान्त और गम्भीर भी रहना चाहिए। साथ ही सब के प्रति समभाव रखना चाहिए, चाहे किसी के द्वारा अपनी कैसी भी हानि क्यों न हुई हो या क्यों न हो रही हो। सामायिक में बैठा हुआ श्रावक इस पंचम आरे में भी किस प्रकार समभाव रखता है तथा भौतिक पदार्थ की हानि से अपना चित्त अस्थिर नहीं होने देता है, यह बताने के लिए एक घटना का वर्णन किया जाता है, जो सुनी हुई है।

दिल्ली में एक जौहरी श्रावक सामायिक करने के लिए बैठा। सामायिक में बैठते समय उसने अपने गले में पहना हुआ मूल्यवान कण्ठा उतार कर अपने कपड़ों के साथ रख दिया। वहीं पर एक दूसरा श्रावक भी उपस्थित था। उस दूसरे श्रावक ने जौहरी श्रावक को कण्ठा निकाल कर रखते देखा था। जब वह जौहरी

श्रावक सामायिक में था तब उस दूसरे श्रावक ने, जौहरी के कपड़ों में से वह कण्ठा निकाला और जौहरी को कण्ठा बताकर उससे कहा कि मैं यह कण्ठा ले जाता हूँ। यह कहकर वह दूसरा श्रावक, कण्ठा लेकर कलकत्ता के लिए चल दिया। यद्यपि वह कण्ठा मूल्यवान था और जौहरी श्रावक के देखते हुए बल्कि जौहरी श्रावक को बता कर वह दूसरा श्रावक कण्ठा ले जा रहा था, फिर भी जौहरी श्रावक सामायिक से विचलित नहीं हुआ। यदि वह चाहता तो उस दूसरे श्रावक को कण्ठा ले जाने से रोक सकता था, अथवा हो-हल्ला करके उसको पकड़वा सकता था, लेकिन यदि वह ऐसा करता तो उसकी सामायिक भी दूषित होती और सामायिक लेते समय उसने जो प्रत्याख्यान किया था, वह भी टूटता। जौहरी श्रावक दृढ़ निश्चयी था, इसलिये कण्ठा जाने पर भी वह सामायिक में समभाव प्राप्त करता रहा।

सामायिक करके जौहरी श्रावक अपने घर आया। उस समय भी उसको कण्ठा जाने का खेद नहीं था। उसके घर वालों ने उसके गले में कण्ठा न देखकर, उससे कण्ठे के लिए पूछा भी कि कण्ठा कहाँ गया, लेकिन उसने घर वालों को भी कण्ठे का पता नहीं बताया। उनसे यह भी नहीं कहा, कि मैं सामायिक में बैठा हुआ था उस समय अमुक व्यक्ति कण्ठा ले गया, किन्तु यही कहा कि कण्ठा सुरक्षित है।

वह दूसरा श्रावक कण्ठा लेकर कलकत्ता गया। वहाँ उसने वह कण्ठा बन्धक (गिरवी) रख दिया, और प्राप्त रुपयों से व्यापार किया। योगायोग से, उस श्रावक को व्यापार से अच्छा लाभ हुआ। श्रावक ने सोचा, कि अब मेरा काम चल गया है, इसलिए अब कण्ठा जिसका है उसे वापस कर देना चाहिए। इस प्रकार सोचकर वह कण्ठा छुड़ाकर दिल्ली आया। उसने अनुनय, विनय और क्षमा प्रार्थना करके, वह कण्ठा जौहरी श्रावक को दिया तथा उससे कण्ठा गिरवी रखने एवं व्यापार करने का हाल कहा। उस समय घरवालों एवं अन्य लोगों को कण्ठा-सम्बन्धी सब बात मालूम हुई।

मतलब यह कि कोई कैसी भी क्षति करे, सामायिक में बैठे हुए व्यक्ति को स्थिर-चित्त होकर रहना चाहिए, समभाव रखना चाहिए, उस हानि करनेवाले पर क्रोध न करना चाहिए, न बदला लेने की भावना ही होनी चाहिए।

श्री उपासक दशाङ्ग सूत्र के छठे अध्ययन में, कुण्डकोलिक श्रावक का वर्णन है। उसमें कहा गया है, कि कुण्डकोलिक श्रावक अपनी अशोक वाटिका में अपना उत्तरीय वस्त्र और अपनी नामाङ्कित मुद्रिका उतार कर धर्म चिन्तवन कर रहा था। उस समय वहाँ एक देव आया। कुण्डकोलिक को विचलित करने के लिए, वह देव, कुण्डकोलिक का अलग रखा हुआ मुद्रिका सहित वस्त्र उठाकर

आकाश में ले गया और आकाश-स्थित होकर उस देव ने कुण्डकोलिक से सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तर किये। यानी भगवान महावीर के पुरुषार्थवाद और गोशालक के होनहारवाद के सम्बन्ध में कुण्डकोलिक से बातचीत की। कुण्डकोलिक ने देव द्वारा किये गये प्रश्नों का उत्तर देकर देव को निरुत्तर करने का प्रयत्न तो अवश्य किया, लेकिन अपना उत्तरीय वस्त्र या अपनी मुद्रिका प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की।

कुण्डकोलिक श्रावक, उस समय सामायिक में नहीं था। फिर भी उसने इस प्रकार धैर्य और दृढ़ता रखी, तो सामायिक करनेवाले में कैसा धैर्य और कैसी दृढ़ता होनी चाहिए, यह बात इस आदर्श से सीखने की आवश्यकता है।

आदर्श सामायिक उसी को हो सकती है, जिसका चित्त सामायिक में स्थिर और आत्मभाव में लीन हो। निश्चयनय वालों ने ऐसी सामायिक को ही सामायिक माना है, जो मन, वचन, काय की एकाग्रतापूर्वक की जावे। इसके विरुद्ध जिस सामायिक में चित्त दूसरी जगह रहता है, आत्मभाव में लीन नहीं होता, वह सामायिक निश्चयनय से सामायिक ही नहीं है। इसके लिए एक कथा भी प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार है:—

एक श्रावक सामायिक लेकर बैठा था। उसी समय एक आदमी ने उसके यहाँ आकर उसकी पुत्र-वधू से पूछा कि तुम्हारे

ससुर कहाँ हैं ? श्रावक की पुत्र-वधू ने उत्तर दिया कि ससुरजी इस समय बाजार में पंसारी के यहाँ सोंठ लेने गये हैं। वह आदमी श्रावक की पुत्र-वधू का उत्तर सुनकर, बाजार में जा श्रावक की खोज करने लगा, परन्तु उसे श्रावक का पता न मिला। वह फिर श्रावक के घर आया और उसने श्रावक की पुत्र-वधू से कहा, कि सेठजी बाजार में तो नहीं मिले, वे कहाँ गये हैं ? श्रावक की पुत्र-वधू ने उत्तर दिया कि अब वे मोची बाजार में जूता पहनने गये हैं। वह आदमी फिर श्रावक की खोज में गया, परन्तु श्रावक वहाँ भी नहीं मिला, इसलिए लौटकर उसने फिर श्रावक की पुत्र-वधू से कहा कि वे तो मोची बाजार में भी नहीं मिले! मुझे उनसे एक आवश्यक कार्य है इसलिए ठीक बता दो कि वे कहाँ गये हैं। पुत्र-वधू ने उत्तर दिया कि अब वे सामायिक में हैं।

वह आदमी बैठ गया। श्रावक की सामायिक समाप्त हुई। सामायिक पालकर उसने उस आदमी से बातचीत की और फिर अपनी पुत्र-वधू से कहने लगा, कि तुम जानती थी कि मैं सामायिक में बैठा हुआ था, फिर भी तुमने उस आदमी को सच्ची बात न बताकर व्यर्थ के चक्कर क्यों दिये! ससुर के इस कथन के उत्तर में बहू ने नम्रता-पूर्वक कहा कि मैंने जैसा देखा, उस आदमी से वैसा ही कहा। आप शरीर से तो सामायिक में बैठे थे, लेकिन आपका चित्त पंसारी और मोची के यहाँ गया था या नहीं ?

पुत्र-वधू का उत्तर सुनकर, उस श्रावक ने अपनी भूल स्वीकार की और भविष्य में सावधान रहकर सामायिक करने की प्रतिज्ञा की।

यह कथा कल्पित है या वास्तविक है यह नहीं कहा जा सकता। इसके द्वारा बताना यह है कि निश्चयनय वाले द्रव्य सामायिक को सामायिक नहीं मानते, किन्तु उसी सामायिक को सामायिक मानते हैं जो मन, वचन, काय को एकाग्र रख कर उपयोग सहित की जाती है और जिसमें आत्म-भाव में तल्लीनता होती है। ऐसी सामायिक से ही आत्म-कल्याण भी होता है और ऐसी सामायिक का ही लोगों पर प्रभाव भी पड़ता है। यानी धर्म और सामायिक के प्रति लोगों के हृदय में श्रद्धा होती है।

सामायिक व्रत के अतिचार

व्रत की आराधना शुद्ध हो इसके लिए व्रत के अतिचारों को जानना आवश्यक है। क्योंकि जब तक व्रत को दूषित करने वाले कारण नहीं जान लिये जाते, तब तक उन कारणों से बचकर व्रत को शुद्ध नहीं रखा जा सकता। इसीलिए शास्त्रकारों ने आगमों में सामायिक व्रत के दोषों का भी स्वरूप बता दिया है, जिससे उन दोषों को समझा जा सके और उनसे बचा जा सके।

व्रत चार प्रकार से दूषित होते हैं, अतिक्रम से, व्यतिक्रम से, अतिचार से और अनाचार से। इन चारों का रूप बताने के लिए एक कवि ने कहा है :—

मन की विमलता नष्ट होने को अतिक्रम है कहा।
शीलचर्या के विलंघन को व्यतिक्रम है कहा॥
हे नाथ! विषयों में लिपटने को कहा अतिचार है।
आसक्त अतिशय विषय में रहना महानाचार है॥

अर्थात्—मन की निर्मलता नष्ट होकर मन में अकृत्य-कार्य करने का संकल्प करना, अतिक्रम कहलाता है। ऐसा संकल्प कार्य रूप में परिणत करने और व्रत नियम का उल्लङ्घन करने के लिए उद्यत होना तथा अकृत्य-कार्य का प्रारम्भ कर देना, व्यतिक्रम है। इससे आगे बढ़कर विषयों की ओर आकर्षित होकर व्रत नियम भंग करने के लिए सामग्री जुटाना यानी तैयारी करना अतिचार है और व्रत नियम भंग कर डालना अनाचार है।

इन चारों में से अनाचार दोष से तो व्रत सर्वथा भङ्ग हो जाता है, लेकिन शेष तीन दोषों से व्रत आंशिक भंग होता है अर्थात् प्रथम के तीन दोषों से व्रत मलीन होता है। इसलिए इन दोषों से बचने पर ही व्रत का पूर्णतया पालन हो सकता है।

जिन तीन दोषों से व्रत में मलीनता आती है, उनमें सब से बड़ा दोष अतिचार है। इसलिए अतिचार का रूप बता दिया जाता है और वह इसलिए कि इस दोष से न बचने पर व्रत मलीन हो जावेगा और इस दोष से आगे बढ़ने पर व्रत नष्ट हो जावेगा।

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं, जो इस प्रकार हैं, मन दुष्प्रणिधान, वचन दुष्प्रणिधान, काय दुष्प्रणिधान, सामायिक

मति-भ्रंश और सामायिकानवस्थित। इन अतिचारों की थोड़े में व्याख्या की जाती है।

(१) मन का सामायिक के भावों से बाहर प्रवृत्ति करना, मन को सांसारिक प्रपंचों में दौड़ाना और अनेक प्रकार के सांसारिक कार्य विषयक संकल्प-विकल्प करना, मनः दुष्प्रणिधान नाम का अतिचार है।

(२) सामायिक के समय विवेक रहित कटु, निष्ठुर व असभ्य बोलना, निरर्थक या सावद्य वचन कहना, वचन-दुष्प्रणिधान है।

(३) सामायिक में शारीरिक चपलता दिखलाना, शरीर से कुचेष्टा करना, बिना कारण शरीर को फैलाना, सिकोड़ना या असावधानी से चलना, काय दुष्प्रणिधान है।

(४) मैंने सामायिक की है, इस बात को भूल जाना या कितनी सामायिक ग्रहण की है यह विस्मृत कर देना, अथवा सामायिक करना ही भूल जाना, सामायिक मति-भ्रंश है।

(५) सामायिक से ऊबना, सामायिक का समय पूरा हुआ या नहीं, इस बात का बार-बार विचार लाना या सामायिक का समय पूर्ण होने से पहिले ही सामायिक समाप्त कर देना, सामायिकानवस्थित है। यदि सामायिक का समय पूर्ण होने से पहिले, जान बूझ कर सामायिक समाप्त की जाती है, तब तो

अनाचार है, लेकिन 'सामायिक का समय पूर्ण हो गया होगा' ऐसा विचार कर समय पूर्ण होने से पहिले ही सामायिक समाप्त कर दे, तो अतिचार है।

इन पाँचों अतिचारों को जानकर इनसे बचने पर ही सामायिक व्रत का पूरी तरह पालन हो सकता है।

देशावकाशिक व्रत

देशावकाशिक व्रत

श्रावक के बारह व्रतों में से दसवाँ और शिक्षा व्रतों में से दूसरा व्रत देशावकाशिक है। श्रावक, अहिंसादि पाँच अणुव्रत को प्रशस्त बनाने और उनमें गुण उत्पन्न करने के लिए दिक् परिमाण तथा उपभोग-परिभोग परिमाण नाम के जो व्रत स्वीकार करता है, उनमें वह अपनी आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार जो मर्यादा रखता है, वह जीवन भर के लिये होती है। यानि दिक् व्रत और उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत जीवन भर के लिये स्वीकार किये जाते हैं और इसलिए इन व्रतों को स्वीकार करते समय जो मर्यादा (छूट) रक्खी जाती है वह भी जीवन भर के लिये होती है। लेकिन श्रावक ने व्रत लेते समय जो मर्यादा रक्खी है, यानि आवागमन के लिए जो क्षेत्र रक्खा है,

तथा भोग्योपभोग के लिए जो पदार्थ रखे हैं, उन सब का उपयोग वह प्रति दिन नहीं करता है। इसलिए एक दिन रात के लिए उस मर्यादा को भी घटा देना, आवागमन के क्षेत्र और भोग्योपभोग्य पदार्थ की मर्यादा को कम कर देना ही देशावकाशिक व्रत है। स्थानाङ्ग सूत्र के चतुर्थ स्थान के तीसरे उद्देशे में टीकाकार इस व्रत की व्याख्या करते हुए लिखते हैं :—

> देशे दिग्व्रत गृहितस्य दिक्परिमाणस्य विभागोऽवकाशोऽवस्थानमवतारो विषयोतस्य तद्देशावकाशं तदेव देशावकाशिकम् दिग्व्रत गृहितस्य दिक् परिमाणस्य प्रतिदिनं संक्षेप करण लक्षणे वा।

अर्थात्—दिक् व्रत धारण करने में जो अवकाश रखा है, उसको प्रति दिन संक्षेप करने का नाम देशावकाशिक व्रत है।

इस पर से यह प्रश्न होता है कि उक्त टीका में तो दिक् परिमाण व्रत में रखी गई मर्यादा घटाने को ही देशावकाशिक व्रत कहा गया है। उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थ की मर्यादा घटाने का विधान इस जगह नहीं है। फिर दिक् व्रत और उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत, इन दोनों में रखी गई मर्यादा घटाने का विधान क्यों किया जाता है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं:—

> दिग्व्रत संक्षेप करणमणुव्रताऽऽदि संक्षेप करणस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्यं तेषामपि संक्षेपस्यावश्यं कर्त्तव्यत्वात्।

अर्थात् – देशावकाशिक व्रत में दिक् व्रत की मर्यादा का संक्षेप करना मुख्य है, लेकिन उपलक्षण से अन्य अणुव्रतों को भी अवश्य संक्षेप करना चाहिये, ऐसा वृद्ध पुरुष प्रतिपादन करते आये हैं।

इस कथन से स्पष्ट है कि जिस व्रत में जो मर्यादा रखी गई है, उन सभी मर्यादाओं को घटाना, आवश्यकता से अधिक छूट रखी हुई मर्यादा को परिमित कर डालना ही देशावकाशिक व्रत है। उदाहरण के लिए चौथे अणुव्रत में स्वदार विषयक जो मर्यादा रखी गई है, उसको भी घटाना। इसी प्रकार पाँचवें और सातवें व्रत में रखी गई मर्यादा भी घटाना। इस प्रकार व्रत स्वीकार करते समय जो मर्यादा रखी गई है, उस मर्यादा को घटा डालना यही देशावकाशिक व्रत है।

अब यह बताया जाता है कि इस देशावकाशिक व्रत को स्वीकार करने का उद्देश्य क्या है।

विवेकी श्रावक की सदा यह भावना रहा करती है कि 'वे लोग धन्य हैं, जिन्होंने अनित्य, अशाश्वत एवं अनेक दुःख के स्थान रूप गृहवास को त्याग कर संयम ले लिया है। मैं ऐसा करने के लिए अभी सशक्त नहीं हूँ, इसी से गार्हस्थ्य जीवन बिता रहा हूँ। फिर भी मुझ से जितना हो सके, मैं गृहवास में रहता हुआ भी त्याग-मार्ग को अपनाऊँ।' इस भावना के कारण श्रावक ने व्रत स्वीकार करते समय जो मर्यादा रखी है उस मर्यादा को भी वह

घटाता है, जो अवकाश रखा है उसे भी संक्षेप करता है और इसी के लिए व्रत को स्वीकार करता है।

श्रावक के लिए प्रति दिन चौदह नियम चिन्तन करने की जो प्रथा है, वह प्रथा इस देशावकाशिक व्रत का ही रूप है। इन चौदह नियमों का जो प्रति दिन विवेक पूर्वक चिन्तन करता है, उन नियमों के अनुसार मर्यादा करता है तथा मर्यादा का पालन करता है, वह सहज ही महा लाभ प्राप्त कर लेता है। ग्रन्थों में वे नियम इस प्रकार कहे गये हैं:—

> सचित्त दव्व विग्गई, पन्नी ताम्बुल वत्थ कुसुमेपु।
> वाहण सयण विलेवण, बम्भ दिशि नाहण भत्तेपु॥

अर्थात्—१-सचित वस्तु, २-द्रव्य, ३-विगय, ४-जूते, खड़ाऊ, ५-पान, ६-वस्त्र, ७-पुष्प, ८-वाहन, ९-शयन, १०-विलेपन, ११-ब्रह्मचर्य, १२-दिक्, १३-स्नान और १४-भोजन।

१ सचित—पृथ्वी, पानी, वनस्पति, फल-फूल, सुपारी, इलायची, बादाम, धान्य-बीज आदि सचित वस्तुओं का यथाशक्ति त्याग अथवा यह परिमाण करे कि मैं इतने द्रव्य और इतने वजन से अधिक उपयोग में न लूँगा।

२ द्रव्य—जो पदार्थ स्वाद के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार से तैयार किये जाते हैं, उनके विषय में यह परिमाण करे कि आज मैं इतने द्रव्य से अधिक द्रव्य उपयोग में न लूँगा। यह मर्यादा खान-पान विषयक द्रव्यों की की जाती है।

३ विगय—शरीर में विकृति उत्पन्न करने वाले पदार्थों को विगय कहते हैं। दूध, दही, घृत, तेल और मिठाई ये पाँच सामान्य विगय हैं। इन पदार्थों का जितना भी त्याग किया जा सके, उतने का करे अथवा मर्यादा करे कि आज मैं अमुक-अमुक पदार्थ काम में न लूँगा अथवा अमुक पदार्थ इतने वजन से अधिक काम में न लूँगा।

मधु और मक्खन ये दो विशेष विगय हैं। इनका निष्कारण उपयोग करने का त्याग करे और सकारण उपयोग की मर्यादा करे।

मद्य एवं मांस ये दो महा विगय हैं। श्रावक को इन दोनों का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

४ पन्नी—पाँव की रक्षा के लिए जो चीजें पहनी जाती हैं, जैसे-जूते, मोजे, खड़ाऊ, बूट आदि इनकी मर्यादा करे।

५ ताम्बुल—जो वस्तु भोजनोपरान्त मुख शुद्धि के लिए खाई जाती है, उनकी गणना ताम्बुल में है। जैसे-पान, सुपारी, इलायची, चूरन आदि, इनके विषय में भी मर्यादा करे।

६ वस्त्र—पहनने, ओढ़ने के कपड़ों के लिए यह मर्यादा करे कि अमुक जाति के इतने वस्त्र से अधिक वस्त्र काम में न लूँगा।

७ कुसुम—सुगन्धित पदार्थ, जैसे-फूल, इत्र, तेल व सुगन्धादिक आदि के विषय में भी मर्यादा करे।

८ वाहन—हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाड़ी, ताँगा, मोटर, रेल, नाव, जहाज आदि सवारी के साधनों के, चाहे वे साधन स्थल के हों अथवा जल या आकाश के हों, यह मर्यादा करे कि मैं अमुक अमुक वाहन के सिवाय आज और कोई वाहन काम में न लूँगा।

९ शयन—शैया, पाट, पाटला, पलंग, बिस्तर आदि विषय में मर्यादा करे।

१० विलेपन—शरीर पर लेपन किये जाने वाले द्र जैसे–केसर, चन्दन, तेल, साबुन, अञ्जन, मञ्जन आदि के सम्बन् में प्रकार एवं भार की मर्यादा करे।

११ ब्रह्मचर्य—स्थूल ब्रह्मचर्य यानी स्वदार-सन्तोष, पर विरमण व्रत स्वीकार करते समय जो मर्यादा रखी है, उसका यथा शक्ति संकोच करे, पुरुष पत्नी संसर्ग के विषय में और पति संसर्ग के विषय में त्याग अथवा मर्यादा करे।

१२ दिशि—दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करते स आवागमन के लिए मर्यादा में जो क्षेत्र जीवन भर के लिए रखा उस क्षेत्र का भी संकोच करे तथा यह मर्यादा करे कि आज इतनी दूर से अधिक दूर ऊर्ध्व, अधः या तिर्यक् दिशा में गम गमन न करूँगा।

१३ स्नान—देश या सर्व स्नान के लिए भी मर्यादा कि आज इससे अधिक न करूँगा। शरीर के कुछ भाग को ध देश स्नान है और सब भाग को धोना सर्व स्नान कहा जाता है

१४ भत्ते—भोजन, पानी के सम्बन्ध में भी मर्यादा करे कि मैं आज इतने प्रमाण से अधिक न खाऊँगा न पीऊँगा।

ये चौदह नियम देशावकाशिक व्रत के ही अन्तर्गत हैं। इन नियमों से व्रत विषयक जो मर्यादा रखी गई है उसका संकोच होता है और श्रावकपना भी सुशोभित होता है।

कई लोग इन चौदह नियमों के साथ असि, मसि और कृषि इन तीन को और मिलाते हैं। ये तीनों कार्य आजीविका के लिए किये जाते हैं। आजीविका के लिए जो कार्य किये जाते हैं, उनमें से पन्द्रह कर्मादान का तो श्रावक को त्याग ही होता है। शेष जो कार्य रहते हैं, उनके विषय में भी प्रतिदिन मर्यादा करे।

१ असि—शस्त्र, औजारादि के द्वारा परिश्रम करके अपनी जीविका की जाय, उसे 'असि' कर्म कहा जाता है।

२ मसि—कलम, दवात, कागज के द्वारा लेख या गणित कला का उपयोग किया जाय, उसे 'मसि' कर्म कहा जाता है।

३ कृषि—खेती के द्वारा या उन पदार्थों का क्रय-विक्रय करके आजीविका की जाय उसको 'कृषि' कर्म कहा जाता है।

उपरोक्त तीनों विषय में श्रावकोचित कार्य की मर्यादा रख कर शेष के त्याग करे।

दया या छः काय व्रत स्वीकार करने के लिए किये जाने वाले प्रत्याख्यान, जितने करण और योग से चाहें, उतने करण व योग से कर सकते हैं। कोई दो करण तीन योग से पाँच आस्रव द्वार सेवन करने का त्याग करते हैं। यानी यह प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं मन, वचन और काय से पाँच आस्रव द्वारों का सेवन न करूँगा न दूसरे से कराऊँगा। इस तरह की प्रतिज्ञा करने वाला व्यक्ति प्रतिज्ञा करने के पश्चात जितने समय तक के लिए प्रतिज्ञा की है उतने समय तक न तो स्वयं ही व्यापार, कृषि या दूसरे आरम्भ, समारम्भ के कार्य कर सकता है, न अन्य से कह कर करवा ही सकता है। लेकिन इस तरह की प्रतिज्ञा करने वाले के लिए जो वस्तु बनी है, उस वस्तु का उपयोग करने से प्रतिज्ञा नहीं टूटती है। इस व्रत को एक करण तीन योग से भी स्वीकारा जा सकता है। जो व्यक्ति एक करण तीन योग से यह व्रत स्वीकार करता है और आस्रव द्वार के सेवन का त्याग करता है, वह स्वयं तो आरम्भ, समारम्भ के कार्य नहीं कर सकता, लेकिन यदि दूसरे से

दया व्रत करे, उसकी निन्दा करना अनुचित है। इसी प्रकार दया व्रत करने वाले लोग भी यदि रसनेन्द्रिय पर संयम रखें, तो किसी को इस व्रत की निन्दा करने का अवसर ही न मिले और यह व्रत आदर्श माना जावे।

(सम्पादक)

कह कर आरम्भ, समारम्भ के काम कराता है, तो ऐसा करने से उसका त्याग भंग नहीं होता। क्योंकि उसने दूसरे के द्वारा आरम्भ, समारम्भ कराने का त्याग नहीं किया है।

इसी तरह इस व्रत को स्वीकार करने के लिए जो प्रत्याख्यान किये जाते हैं, वे एक करण और एक योग से भी हो सकते हैं। ऐसे प्रत्याख्यान करने वाला व्यक्ति, केवल शरीर से ही आरम्भ, समारम्भ के कार्य नहीं कर सकता। मन और वचन के सम्बन्ध में तो उसने त्याग ही नहीं किया है न कराने या अनुमोदन का ही त्याग किया है। ये त्याग बहुत ही अल्प हैं, इनमें आश्रवों का बहुत कम अंश त्याग जाता है और अधिकांश प्रत्याख्यान नहीं होते।

कई लोगों को यह भी पता नहीं होता कि हमने किस प्रकार के त्याग द्वारा दया या छः काया व्रत स्वीकार किया है। ऐसे लोग इस व्रत के लिए किये जाने वाले प्रत्याख्यान के भेदों को नहीं जानते और ऐसे लोगों को त्याग कराने वाले नीची श्रेणी का ही त्याग कराते हैं। ऐसा होते हुए भी, ऐसे लोगों की वृत्ति की तुलना मुनियों की वृत्ति से की जाती है, जो असंगत है। यदि इस सम्बन्ध में विवेक से काम लिया जावे, तो किसी को इस व्रत के विषय में कोई आक्षेप करने का अवसर न मिले।

दया व्रत भी एक प्रकार का पौषध व्रत ही है। पौषध उसे

कहते हैं, जिसके द्वारा धर्म का पोषण किया जावे। पौषध की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि—

पोषं-पुष्टिं प्रक्रमाद् धर्मस्य धत्ते करोतीतिपौषधः।

अथवा

पोसे इ कुशल धम्मे, जंता हारादि चागऽणुट्ठाणं।
इह पोसहो त्तिमणति, विहिणा जिण भासियणेय॥

अर्थात्—प्राणातिपात विरमण आदि के शुभ आचरणों द्वारा धर्म पोषण देना, पौषध है।

पूर्वकाल में इस तरह के पौषध होने का प्रमाण श्री भगव सूत्र के १२ वें शतक के प्रथम उद्देशे में शंखजी और पोखली श्रावक के अधिकार में पाया जाता है, जिनने आहार करके पक्ख पौषध किया था। इस पौषध को करने के लिए, पाँच आस द्वार के सेवन का त्याग करके सामायिकादि में समय लगा चाहिए। यह व्रत स्वीकार करने वाले श्रावक को, व्रत के दि किस प्रकार की चर्या रखनी चाहिए, यह संक्षेप में बताय जाता है।

श्रावक को जिस दिन पौषध (दया या छः काया) करना है, उस दिन समस्त सावद्य व्यापार त्याग कर, पौषध करने योग्य धर्मोपकरण लेकर पौषधशाला अथवा जहाँ साधु महात्मा विराजते

हों † उस स्थान पर उपस्थित होना चाहिए। पश्चात् साधुजी महाराज को वन्दन-नमन करके, अपने शरीर और वस्त्रों का प्रतिलेखन करे, तथा उच्चार प्रस्रवण आदि परठने योग्य चीजों को परठने की भूमि का परिमार्जन करे। फिर ईर्या पथिकी क्रिया के पाठ से, उस क्रिया से निवृत्त होकर गुरु महाराज या बड़े श्रावक और जब अकेला ही हो तब स्वतः गुरु महाराज की आज्ञा लेकर पौषध व्रत (दया या छः काया) स्वीकार करे, तथा सामायिक व्रत लेकर स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यान आदि से धर्म का पुष्ट अवलम्बन ग्रहण करे। ऐसा कोई कार्य न करे कि जिससे व्रत में बाधा पहुँचे। यदि स्वाध्याय करने की योग्यता न हो, तो नमस्कार मन्त्र का जाप करे और गुरु महाराज उपदेश सुनाते हों, तो उपदेश श्रवण करे। पश्चात् सामायिकादि पाल कर आहार करने के लिए जावे। आहार करने के लिए जाने के समय, पौषधशाला से निकलते हुए 'आवस्सही आवस्सही' कहे और मार्ग में यत्नापूर्वक ईर्या शोधन करता हुआ चले। भोजन करने के स्थान पर पहुँच कर, ईर्यापथिक कायोत्सर्ग करे। फिर भोजन करने के पात्र का प्रतिलेखन करके आहार करने बैठे। उस समय यह भावना करे कि 'मुझे आहार तो करना

† श्राविका को अपनी पौषधशाला या महासतियों के स्थान में उपस्थित होना चाहिये।

ही पड़ेगा, लेकिन आहार करके कोई विशेष गुण निपजाऊँ। वे पुरुष धन्य हैं, जो आहार त्याग कर अथवा आयम्बिल करके या निवी करके पौषध करते हैं। मुझ में ऐसी क्षमता नहीं है, इस से मैं इस प्रकार का आहार करता हूँ।' इस प्रकार त्यागवृत्ति वाले लोगों की प्रशंसा करता हुआ आहार करे, जो नीचे बताई गई विधि से हो।

असुर सुरं अव चव चवं, अदुदुअ मविलं वियं अपरिसाडिं
मण वय काय गुत्तो, भुंजइ साहुव्व उवउत्तो॥

अर्थात्—भोजन करते समय सुड़सुड़ाट न करे न चपचपाट करे इसी तरह न बहुत जल्दी भोजन करे, न बहुत धीरे। भोज्य पदार्थ नीचे न गिरने दे, किन्तु मन, वचन, काय को गोप कर साधु की तरह उपयोग सहित आहार करे।

इस विधि से भोजन करे और वह भी परिमित। इसलिए कहा है कि 'जाया माया ए भुंजा।' यानि जिससे और जितने आहार से जीवन यात्रा निभ सके, क्षुधा मिट और आलस्य न हो, प्रकृति सात्त्विक और शरीर स्वस्थ रहे, वैसा और उतना ही परिमित आहार करे।

आहार करके, प्रासुक जल से तृषा मिटावे और हाथ, मुँह स्वच्छ करे। फिर नमस्कार मन्त्र का उच्चारण करके उठे, और तिविहार या चौविहार का प्रत्याख्यान करके जिस स्थान

पौषध किया है, उसी स्थान पर उपस्थित होकर सामायिकादि धर्म कार्य में लग जावे।

आहार करने पर निहार भी करना अनिवार्य होता है। इसलिए पौषध में निहार-उच्चार प्रस्रवण आदि परठने की आवश्यकता हो, तब 'आवस्सही आवस्सही' कह कर साधु की तरह ईर्या शोधता हुआ और यदि रात हो तो पूँजता हुआ स्थंडिल भूमि पर जावे। वहाँ भूमि का परिमार्जन या प्रतिलेखन करके, शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा माँग कर परठे। परठने के पश्चात् प्रासुक जलादि से शुद्धि * करके, तीन वार 'वोसिरे वोसिरे' कहे और फिर अपने स्थान पर आकर 'निस्सही निस्सही' कह कर तथा ईर्यावहि का कायोत्सर्ग कर ज्ञान, ध्यान में तल्लीन हो जावे।

पौषध के दिन, दिन के पिछले प्रहर में पहनने तथा ओढ़ने, बिछाने के वस्त्र और मुखवस्त्रिका रजोहरण आदि का प्रतिलेखन करके, रात में शयन करने के लिए संथारा जमा ले। दिवस की समाप्ति पर देवसी प्रतिक्रमण करके परमात्मा का गुणानुवाद तथा स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यान आदि करे। जब एक प्रहर रात व्यतीत हो जावे, उसके बाद परमात्मा का स्मरण करता हुआ रजोहरण से अपना शरीर एवं संथारा का ऊपरी भाग पूँजे और निद्रा का

* यह विशेष उच्चार (बड़ी नीत) के लिये है।

प्रमाद मिटा ले। फिर रात के पिछले पहर में जागृत होकर निद्रा लेने के समय देखे गये कुस्वप्न और दुःस्वप्न के लिए कायोत्सर्ग करके, स्वाध्याय या परमात्मा के भजन में मग्न हो जावे। लेकिन उस समय इस तरह न बोले, जिससे दूसरे की निद्रा भंग हो जावे। फिर समय होने पर रायसी प्रतिक्रमण करके सूर्योदय हो जाने पर ओढ़ने, बिछाने तथा पहनने के वस्त्र एवं मुखवस्त्रिका रजोहरण आदि का प्रतिलेखन करके यह जाने कि सोते समय मेरी असावधानी से किसी जीव की विराधना तो नहीं हुई है! पश्चात् पौषध (दया या छः काया) का प्रत्याख्यान पाले।

यह पाँच अणुव्रतों के पालन और पाँच आस्रव द्वार के सेवन का त्याग करने रूप पूर्ण दिन रात के देशावकाशिक व्रत की बात हुई। अब थोड़े समय के लिए पाँच आस्रव के सेवन का त्याग करने रूप देशावकाशिक व्रत का स्वरूप बताया जाता है। इस प्रकार के देशावकाशिक व्रत को आधुनिक समय में 'संवर' कहा जाता है। थोड़े समय के देशावकाशिक व्रत यानि संवर के विषय में कहा गया है कि—

> दिग्व्रतं यावज्जीव, संवत्सर चातुर्मासी परिमाणं या,
> देशावकासिकं तु, दिवस प्रहर मुहूर्त्तादि परिमाणं।

अर्थात्—दिक्व्रत जीवन भर, वर्ष भर या चार मास के लिए स्वीकारा जाता है, इसी तरह देशावकाशिक व्रत दिन, प्रहर या मुहूर्त आदि के लिए भी किया जाता है।

इससे स्पष्ट है कि जो देशावकाशिक व्रत दिन भर यानी चार या आठ पहर के लिए स्वीकारा जाता है, उसको पौषध कहते हैं और जो प्रहर, मुहूर्त्त आदि थोड़े समय के लिए स्वीकारा जाता है, उसे संवर कहते हैं।

थोड़े समय का देशावकाशिक व्रत यानि संवर, जितने भी थोड़े समय के लिए स्वीकार करना चाहे, कर सकता है। पूर्वाचार्यों ने सामायिक व्रत का काल कम से कम ४८ मिनिट के एक मुहूर्त्त का नियत किया है। इससे कम समय के लिए यदि पाँच आस्रव का त्याग करना है, तो उस त्याग की गणना संवर नाम के देशावकाशिक व्रत में ही होगी। जब अवकाशाभाव अथवा अन्य कारणों से विधिपूर्वक सामायिक करने का अवसर न हो, तब इच्छानुसार समय के लिए आस्रव से निवृत्त होने के वास्ते संवर किया जा सकता है।

वर्त्तमान समय में देशावकाशिक व्रत चौविहार उपवास न करके कई लोग प्रासुक पानी का उपयोग करते हैं और इस प्रकार से किये गये देशावकाशिक व्रत को भी पौषध कहते हैं। परन्तु वास्तव में इस तरह का पौषध, देशावकाशिक व्रत ही है। पौषध ग्यारहवें व्रत में होता है, वैसे ही दशवें व्रत में भी हो सकता है। ग्यारहवें व्रत का पौषध तब होता है, जब चारों प्रकार के आहार का पूर्णतया त्याग कर दिया जावे और चारों प्रकार के पौषध को

पूरी तरह अपनाया जावे। जो इस तरह नहीं किया जाता है, किन्तु सामान्य रूप में किया जाता है, उसकी गणना दसवें व्रत के पौषध यानी देशावकाशिक व्रत में है। इसके अनुसार तप करके पानी का उपयोग करने अथवा शरीर में लगाने, मलने रूप तेल का उपयोग करने पर भी उपवास में दशवें व्रत का ही पौषध हो सकता है, ग्यारहवें व्रत का पौषध नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार पौषध के अनेक भेद हैं। जिसमें चारों आहार का पूर्णतया त्याग और चारों प्रकार के पौषध का पालन किया जाता है, वही पौषध ग्यारहवें व्रत का पौषध है। शेष पौषध दशवें व्रत के पौषध में ही हैं। दशवें व्रत का पौषध तपपूर्वक भी किया जा सकता है और आहार करके भी। इसलिए यदि श्रावक चाहे और विवेक से काम ले तो वह प्रत्येक समय दशवाँ व्रत निपजा सकता है।

देशावकाशिक व्रत के अतिचार

इस देशावकाशिक व्रत की रक्षा के लिये ज्ञानी महा पुरुषों ने व्रत को दूषित करने वाले कामों की गणना अतिचार में करके, उन कामों यानि अतिचारों से बचते रहने के लिए सावधान किया है। देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार हैं, जो इस प्रकार हैं—आनयन प्रयोग, प्रेष्यवण प्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, बाह्यपुद्गल प्रक्षेप। इन अतिचारों की व्याख्या नीचे की जाती है:—

१ आनयन प्रयोग—दिशाओं का संकोच करने के पश्चात् आवश्यकता उत्पन्न होने पर मर्यादित भूमि से बाहर रहे हुए सचित्तादि पदार्थ किसी को भेज कर मँगवाना अथवा किसी को

भेज कर मर्यादित क्षेत्र से बाहर के समाचार मँगवाना, आनयन प्रयोग नाम का अतिचार है।

इस विषय में टीकाकार ने बहुत कुछ लिखा है। उनका कथन है कि यदि श्रावक स्वयं काम करे तो वह विवेक से काम ले सकता है और चिकने कर्म का बन्ध टाल सकता है, लेकिन दूसरे के द्वारा काम कराने पर, श्रावक इस लाभ से वंचित ही रहता है।

२ प्रेष्यवण प्रयोग—दिशाओं की मर्यादा का संकोच करने के पश्चात् प्रयोजनवश मर्यादा से बाहर की भूमि में किसी दूसरे के द्वारा कोई पदार्थ या सन्देश भेजना प्रेष्यवण प्रयोग नाम का अतिचार है। अपना पाप टालने के उद्देश्य से दूसरों को उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने को आज्ञा दे कि अमुक कार्य तुझे करना ही पड़ेगा, यह भी प्रेष्यवण प्रयोग नाम का अतिचार है।

३ शब्दानुपात—मर्यादा के बाहर की भूमि से सम्बन्धित कार्य उत्पन्न होने पर मर्यादा की भूमि में रह कर ऐसा टिचकारा या खँखारा आदि शब्द करना कि जिससे दूसरे लोग शब्द करने वाले का आशय समझ सकें और उसके पास आजावें या कार्य कर सकें, शब्दानुपात नाम का अतिचार है।

४ रूपानुपात—मर्यादा में रखी हुई भूमि के बाहर का कोई कार्य उत्पन्न होने पर इस तरह की शारीरिक चेष्टा करना

जिससे दूसरा व्यक्ति आशय समझ जावे, यानि शारीरिक चेष्टा द्वारा संकेत करना, रूपानुपात नाम का अतिचार है।

५ बाह्य पुद्गल प्रक्षेप—मर्यादित भूमि के बाहर का कार्य उपस्थित होने पर ढेला, कंकर आदि चीजें मर्यादित भूमि के बाहर फेंक कर दूसरे को संकेत करना, बाह्य पुद्गल प्रक्षेप नाम का अतिचार है।

ऊपर बताये गये अतिचारों में से प्रारम्भ के दो अतिचार, अतिचार की कोटि में तभी तक हैं, जब तक अतिचार में बताये गये कार्य बिना उपयोग से यानि भूल से किये जावें। इस पर से यह प्रश्न होता है कि जब प्रारम्भ के दोनों अतिचार में बताये गये कार्य को करनेवाला व्यक्ति व्रत की अपेक्षा रखता है और इसीलिए वह स्वयं न जाकर दूसरे को भेज रहा है, तब उसका कार्य भूल से हुआ कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह दशवाँ व्रत दो करण तीन योग से होता है। इसलिए व्रत स्वीकार करने वाला व्यक्ति मर्यादित भूमि के बाहर न तो स्वयं ही जा सकता है, न किसी को भेज ही सकता है। ऐसा होते हुए भी, अपने लिए मर्यादित भूमि से बाहर न जाने का ध्यान तो रखना, लेकिन दूसरे को न भेजने का ध्यान न रखना, और भेज देना, अतिचार है। यदि दूसरे को न भेजने के नियम का ध्यान होने पर भी इस नियम की उपेक्षा करके दूसरे को

मर्यादित भूमि से बाहर भेजा जावे तब तो अनाचार ही है। शेष तीन अतिचार, व्रत की अपेक्षा रखते हुए भी माया कपट से किये जाते हैं, परन्तु व्रत की अपेक्षा रखी जाती है, इसलिए अतिचार ही हैं, लेकिन प्रबल अतिचार हैं।

इन अतिचारों को समझ कर व्रतधारी को इनसे बचते रहना चाहिए। इन अतिचारों से बचे रहने पर ही व्रत का पूरी तरह पालन होता है।

पौषधोपवास व्रत

पौषधोपवास व्रत
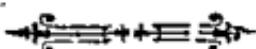
श्रावक के बारह व्रतों में से ग्यारहवाँ और श्रावक के चार शिक्षा व्रतों में से तीसरा व्रत पौषधोपवास व्रत है। इस व्रत को स्वीकार एवं पालन करने पर, आत्मा का उत्थान होता है, आत्मा परम शान्ति को प्राप्त करता है और आत्मा को समाधि प्राप्त होती है। पौषधोपवास व्रत श्रावक के लिए कहे गये चार प्रकार के विश्राम-स्थल में से एक है।

श्री स्थानाङ्ग सूत्र में, भगवान् महावीर ने एक भारवाहक और उसके विश्राम-स्थल का उदाहरण देकर, उस उदाहरण को श्रावक पर घटाया है। उस उदाहरण में कहा गया है कि भारवाहक के लिए विश्राम के चार स्थल हैं। वे स्थल इस प्रकार हैं—

(१) भार को एक कन्धे पर से दूसरे कन्धे पर रखने के समय, जब ऐसा करने के लिए भार खिसकाया जाता है, तब कुछेक देर के लिए विश्राम मिलता है।

(२) मल-मूत्र त्यागने को कुछ अधिक देर के लिए अपने ऊपर से भार उतारा जाता है, तब विश्राम मिलता है।

(३) जब रात हो जाती है, तब किसी देवल, सराय आदि स्थान में रात भर के लिए भार उतारा जाता है, तब विश्राम मिलता है।

(४) जब चलते-चलते निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है, तब भार उतार देता है और विश्राम पाता है।

भारवाहक की तरह गृहस्थ श्रावक भी जो गृह संसार का भार वहन कर रहा है, चार स्थल पर ही विश्राम पाता है। यानि चार स्थल पर ही वह गृह संसार के बोझ से हल्का होता है और तब उसे विश्राम मिलता है। वे चार स्थल इस प्रकार हैं—

(१) 'मैं अणुव्रत, गुण व्रत आदि व्रत स्वीकार करके पौषधोपवास करता हुआ विचरूँ, ऐसा करना ही मेरे लिए कल्याणकर है' इस प्रकार की भावना करना, श्रावक के लिए उसी प्रकार का विश्राम-स्थल है, जिस प्रकार का विश्राम-स्थल भारवाहक के लिए कन्धा बदलना होता है।

(२) सावद्य योग के त्याग और निरवद्य योगों का स्वीकार

रूप सामायिक लेकर चित्त को समाधि भाव में प्रवर्त्ताना, यह दूसरा विश्राम-स्थल है। अथवा देशावकाशिक व्रत स्वीकार करके अपने ऊपर के भार को कुछ समय के लिये कम करना, यह भी गृहस्थ श्रावक के लिए दूसरा विश्राम-स्थल है।

(३) अष्टमी, चतुर्दशी, पक्खी आदि पर्व के दिन, रात्रि दिवस के लिए पौषधोपवास करना, तीसरा विश्राम-स्थल है।

(४) अन्त समय में समस्त सांसारिक कार्यों से निवृत्त होकर, संलेषणा, संथारा आदि करके शेष जीवन को समाधि प्राप्त करने में लगा देना, यह चौथा विश्राम-स्थल है।

इन चारों प्रकार के विश्राम-स्थल में से पौषधोपवास गृहस्थ श्रावक के लिए उसी प्रकार का तीसरा विश्राम-स्थल है, जैसा तीसरा विश्राम-स्थल भारवाहक के लिए रात्रि-निवास रूप बताया गया है। पौषधोपवास की व्याख्या करने के लिए शास्त्रकार लिखते हैं—

> पौषधे उप वसनं पौषधोपवासः नियम
> विशेषाभिधानं चेदं पौषधोपवासः।

अर्थात्—धर्म को पुष्ट करने वाले नियम विशेष धारण करके उपवास सहित पौषधशाला में रहना, पौषधोपवास व्रत है।

शास्त्रकारों ने पौषधोपवास के चार भेद कहे हैं। वे कहते हैं—

पोसहोववासे चउविहे पन्नत्ते तं जहा आहार पोसहे,
शरीर पोसहे, बम्भचेर पोसहे, अव्यवहार पोसहे।

अर्थात्—पौषधोपवास चार प्रकार का होता है। आहार पौषध, शरीर पौषध, ब्रह्मचर्य पौषध और अव्यापार पौषध।

इन चारों पौषध की थोड़े में अलग अलग व्याख्या की जाती है।

१ आहार पौषध—आहार का त्याग करके धर्म को पोषण देना, आहार पौषध है।

प्रति-दिन आहार करने के कारण शरीर में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे धर्म कार्य में बाधा होती है। साथ ही आहार प्राप्त करने में, पकाने में और खाने, पचाने आदि में भी समय जाता है। उस समय को बचा कर धर्म का पोषण करने में लगाने और आहार करते रहने के कारण उत्पन्न विकारों को शमन करने के लिए उपवास पूर्वक धर्मानुष्ठान में लगाने का नाम आहार त्याग पौषध है। यह आहार त्याग पौषध दो प्रकार का है, देश से और सर्व से। क्षुधा-वेदनी का परिषह नहीं और सके इसलिये क्षुधा-कुकरी को टुकड़ा फेंकने रूप शरीर को भाड़ देने के लिये आयंबिल करना, निवी करना अथवा एकासन बियासना करके धर्म को पोषण देना देश से आहार पौषध है, और सम्पूर्ण दिन, रात्रि चौविहार उपवास करना सर्व से आहार त्याग पौषध है।

२ शरीर पौषध—स्नान, उबटन, विलेपन, पुष्प, गन्ध, अलंकार, वस्त्र आदि से शरीर को अलंकृत करने का त्याग करके धर्मानुष्ठान में लगाना, शरीर पौषध है ।

शरीर पौषध भी दो प्रकार का होता है । एक तो देश से और दूसरा सर्व से । शरीर-अलंकार के साधनों में से कुछ त्यागना और कुछ न त्यागना, देश से शरीर पौषध है। जैसे आज मैं उबटन न लगाऊँगा, तेल मर्दन न करूँगा या अमुक कार्य न करूँगा। इस प्रकार शरीर-अलंकार के कुछ साधनों का त्याग करना, देश से शरीर पौषध है और दिन रात के लिये शरीर-अलंकार के सभी साधनों का सर्वथा त्याग करना, सर्व से शरीर पौषध है ।

३ ब्रह्मचर्य पौषध—तीव्र मोह उदय के कारण वेद जन्य चेष्टा रूप मैथुन और मैथुनाङ्ग का त्याग करके आत्म-भाव में रमण करना और धर्म का पोषण करना, ब्रह्मचर्य पौषध है ।

ब्रह्मचर्य पौषध के भी दो भेद हैं । एक देश से ब्रह्मचर्य पौषध और दूसरा सर्व से ब्रह्मचर्य पौषध । अपनी पत्नी के सम्बन्ध में कोई मर्यादा करना देश से ब्रह्मचर्य पौषध है और मैथुन का सर्वथा त्याग करके धर्म का पोषण करना, सर्व से ब्रह्मचर्य पौषध है ।

४ अव्यापार पौषध—आजीविकोपार्जन के लिए किये

जाने वाले कृषि, वाणिज्य आदि व्यापार का त्याग करके धर्म का पोषण करना, अव्यापार पौषध है।

अव्यापार पौषध के भी देश से और सर्व से दो भेद हैं। आजीविका के लिए किये जाने वाले कार्यों में से कुछ का त्याग करना देश से अव्यापार पौषध है और सब कार्यों का पूर्ण रूपेण अहोरात्रि के त्याग करना, सर्व से अव्यापार पौषध है।

इन चारों प्रकार के पौषध को देश या सर्व से करना ही पौषधोपवास व्रत है। जो पौषधोपवास देश से किया जाता है वह स-सामायिक किया जावे तब भी हो सकता है और यों भी हो सकता है। जैसे-केवल उपवास, आयंबिल आदि करे अथवा शरीर सुश्रुषा के अमुक प्रकार के त्याग करे, ब्रह्मचर्य का कुछ नियम ले या किसी प्रकार के व्यापार के त्याग करे परन्तु पौषध की वृत्ति धारण न करे, इस प्रकार के पौषध (त्याग) दसवें व्रत के अंतर्गत माने गये हैं। किन्तु ग्यारहवां व्रत तो सम्पूर्ण चारों प्रकार के सर्वथा त्याग कर सामायिक पूर्वक † पूर्ण दिवस, रात्रि को करे, उसे ही

---

† सामायिक पौषध का मतलब वृत्ति सहित चारों प्रकार के पौषध करना है। सामायिक में सावद्य योग का प्रत्याख्यान होता है। इसी प्रकार स-सामायिक पौषध में भी चारों पौषध स्वीकार करने के साथ सर्व सावद्य योग का त्याग होता है। इसीलिए कहा गया है कि ग्यारहवाँ व्रत से सामायिक ही हो सकता है। सामायिक रहित पौषध की गणना दसवें व्रत में होती है।

(प्रति पूर्ण पौषध) इस व्रत की कोटि में सुमार किया जाता है जिसके त्याग इस प्रकार पाठ बोल कर किये जाते हैं।

"ग्यारहवां पडिपुण्ण पोसहवयं, सव्वं, असणं, पाणं, खाइमं साइमं पचखामि, अबम्भ, सेवणं, पचखामि; उमुक्कमणि, हिरण, सुवण्ण, माला, वण, विलेवणं पचखामि, सत्थ, मुसलाई, सव्व, सावज्ज योगं पचखामि, जाव, अहोरत्तं, पज्जुवासामि दुविहं, तिविहेणं, न करेमि न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा तस्स भन्ते पडिकमामि, निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि"

इस पाठ द्वारा चारों प्रकार का आहार सब प्रकार की शरीर, सुश्रुषा, अब्रह्मचर्य और समस्त सावद्य व्यापार का पूर्ण अहोरात्रि के लिये त्याग किया जाता है, यहां तक कि प्रातःकाल सूर्योदय हो जाने के बाद पौषध वृत्ति धारण करने में जितनी भी देरी हो जावे उतना ही समय दूसरे दिन सूर्योदय हो जाने के बाद पौषधवृत्ति में कायम रहे, उसे ही प्रतिपूर्ण पौषध माना जाता है। सम्पूर्ण आठ प्रहर से कम पौषध को प्रतिपूर्ण पौषध में नहीं लिया जाता है।

यदि कोई सम्पूर्ण आठ प्रहर का स-सामायिक पौषध व्रत नहीं करके कम समय के लिये पौषध करना चाहे तो वह प्रतिपूर्ण पौषध तो नहीं कहा जाता, और शास्त्रीय विधि से तो ऐसा नहीं

होता। किन्तु ग्यारहवें व्रत में शुमार किये जाने योग्य पौषध कर सकता है ‡ ऐसा व्यवहार है।

सर्व सावद्य योग के त्यागपूर्वक पौषधोपवास व्रत करने वाले का क्या कर्त्तव्य होता है, यह बताने के लिए सुखविपाक सूत्र में सुबाहुकुमार के वर्णन में कहा गया है कि—

तत्तेणं से सुबाहुकुमारे अन्नयाकयाई चाउद्दसट्ठ मुदिट्ठ पुण्णमासिणीपु जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छई उवागच्छईत्ता पोसहसाला पमज्जई पमज्जईत्ता उच्चार पासवण

‡ वर्त्तमान समय में ग्यारहवें पौषध व्रत के लिए पूरे आठ पहर के स्थान पर कम समय का करने की प्रथा भी है। बल्कि किसी किसी देश में पौषधव्रत की मर्यादा कम से कम पाँच पहर की और किसी किसी देश में चार पहर की भी है। यानि यह प्रथा है कि सूर्यास्त से पहले पौषध स्वीकार कर लिया जाता है और रात भर पौषध में रहकर सूर्योदय होने पर पौषध पाल लिया जाता है। इस तरह धारणा और परम्परा के आधार पर अनेक प्रथाएँ हैं, लेकिन कम समय के लिए पौषध करने वाले को भी एक दिन और एक रात के लिए यानि आठ पहर के लिए चारों प्रकार का आहार, अब्रह्मचर्य, शरीर-अलंकार और आजीविका सम्बन्धी व्यापार का त्याग तो करना ही चाहिए। परन्तु वर्त्तमान समय में, आठ पहर से कम समय के लिए पौषध करने वालों द्वारा इस नियम का पूर्ण पालन होता नहीं देखा जाता। सूत्रों में तो प्रति पूर्ण पौषध करने वाले के लिए आहारादि के साथ ही व्यापारादि का त्याग भी आवश्यक बताया गया है। इसलिए जिस प्रकार पानी पीकर उपवास करने वाला या शरीर पर तैलादि मर्दन करने, कराने वाला व्यक्ति ग्यारहवाँ पौषध व्रत-

भूमि पडिलेहि पडिलेहित्ता दब्भ संथारं संथरइ संथरइत्ता दब्भ संथारं दुरूहई दुरूहईत्ता अट्ठमभत्तं पगिण्हइ पगिण्हइत्ता पोसहसालाए पोसहिए अट्ठम भत्तं पोसहं पडि जागर माणे विहरई।

अर्थात्—वह सुबाहुकुमार (श्रमणोपासक) किसी समय चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या या पूर्णिमा आदि पर्व दिन में जहाँ पर अपनी पौषध-शाला थी वहाँ आया। उसने सब से पहले पौषधशाला को स्वच्छ किया और परिमार्जन करके यह देखा कि कहीं ऐसे जीव तो नहीं हैं, जिनके कारण मेरे पौषध व्रत में कोई बाधा पहुँचे तथा असावधानी में मेरे से उन जीवों की विराधना हो जावे। फिर उसने ऐसी भूमि का निरीक्षण और परिमार्जन किया, जिसे परठने की भूमि अथवा स्थण्डिल भूमि कहते हैं और शारीरिक धर्म के कारण मल-मूत्र त्याग कर जहाँ परठा जा सके। फिर पौषधशाला में दर्भादिक (घास) का संथारा (बिछौना) किया। उस संथारे पर बैठकर उसने अष्टम भक्त यानि तीन दिन के उपवास (तेला) की तपस्या स्वीकार की और वह चारों प्रकार के पौषध सहित समाधि-भाव में आत्मा को स्थिर करके विचरने लगा।

सुबाहुकुमार राजपुत्र था। वह पाँचसौ रानियों का पति था, उसके यहाँ प्रचुर संख्या में दासी-दास थे। यह सब होते हुए भी वह श्रावक था। सुबाहुकुमार केवल नाम का ही श्रावक न

हीं कर सकता, उसी प्रकार व्यापार करके भी ग्यारहवाँ पौषध व्रत नहीं किया जा सकता। किन्तु इस नियम की ओर लोगों का लक्ष्य कम ही होता है। ग्यारहवाँ व्रत, चारों प्रकार के पौषध और सामायिक सहित ही हो सकता है। सामायिक रहित या चारों प्रकार के पौषध का देश पालन करने पर ग्यारहवाँ व्रत नहीं हो सकता।

था, किन्तु जीव, अजीव के स्वरूप और पुण्य, पाप के फल का जानकार था। इस जानकारी के कारण न तो उसे सुख के समय हर्ष होता था न दुःख के समय खेद होता था। वह आस्रव, संवर आदि तत्वों को भी समझता था, इसलिए यथा संभव संवर और निर्जरा के कारणों का ही व्यवहार करता था। वह मोक्ष प्राप्ति का इच्छुक था, इससे अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में पौषध किया करता था। वह किस प्रकार पौषध करता था, यह ऊपर बताया ही जा चुका है। वह धर्म से सम्बन्धित कार्मो को नौकरों से नहीं कराता था, किन्तु स्वयं करता था। इसीलिए उसने आप ही पौषधशाला का परिमार्जन किया। इसी प्रकार धर्म करने के लिए जिस सादगी की आवश्यकता है, वह सादगी भी उसमें थी। इसका प्रमाण है दर्भ का संथारा। जो धार्मिक कार्यों में इस प्रकार कर्त्तव्यनिष्ठ रहता है और सादगी रखता है, वही धर्म का पालन भी कर सकता है और वही मोक्ष भी प्राप्त करता है। ऐसे ही व्यक्ति की धार्मिकता का प्रभाव दूसरे लोगों पर भी पड़ता है।

पौषध व्रत स्वीकार करने के पश्चात् क्या करना चाहिए, यह बात सामायिक व्रत का वर्णन करते हुए बताई जा चुकी है। फिर भी थोड़े में यहाँ उन बातों का पुनः वर्णन अप्रासङ्गिक न होगा।

पौषध व्रत स्वीकार करने वाले श्रावक का जीवन, जितने समय के लिए पौषध व्रत स्वीकार किया है उतने समय के लिए

साधु जीवन के अनुरूप हो जाता है, इसलिए पौषध व्रत-धारी व्यक्ति को वैसे ही कार्य करना उचित है, जिनके करने से पौषध व्रत स्वीकार करने का उद्देश्य पूर्ण हो। पौषध व्रत-धारी श्रावक को इंद्रियों तथा मन पर संयम रखकर, समस्त सांसारिक संकल्प, विकल्प त्याग देने चाहिएँ तथा आत्म-चिंतन, तत्त्व-मनन एवं परमात्म-भजन में ही तल्लीन रहना चाहिए। उसको सारा दिन और सारी रात इन्हीं कार्यों में बिताना चाहिये। पौषध व्रत स्वीकार करने के पश्चात् गृह-संसार, आजीविकोपार्जन, खान-पान और शरीर-सुश्रुषा सम्बन्धी चिन्ता तो छूट ही जाती है। इसलिए पौषध व्रत का अधिक से अधिक समय धर्माराधन में ही लगाना चाहिए। रात में भी जितना हो सके उतना धर्म-जागरण करना चाहिए।

पूर्व कालीन श्रावकों का जो वर्णन सूत्रों में है, उससे पाया जाता है कि अमुक श्रावक रात्रि का प्रथम भाग व्यतीत हो जाने पर जब धर्म-जागरण कर रहा था, तब उसके पास देव आया, जिसने श्रावक से अमुक-अमुक बातें कहीं, या श्रावक को अमुक उपसर्ग दिया। अथवा उस धर्म-जागरण करते हुए श्रावक ने ऐसी२ भावना की। इस वर्णन से स्पष्ट है कि देवता लोग धर्म-जागरण करने वाले श्रावक के पास ही आते हैं। किसी सोये हुए श्रावक को देव ने जगाया, ऐसा वर्णन कहीं भी नहीं पाया

जाता। इसलिए पौषध व्रत-धारी श्रावक को रात के समय अधिक से अधिक धर्म-जागरण करना चाहिए। पंचम गुण स्थान पर स्थित लोगों को शुक्ल ध्यान तो होता ही नहीं है। आर्त्त, रौद्र और धर्म ये तीन ही ध्यान हो सकते हैं। इनमें से पौषध व्रत-धारी के लिए आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान तो सर्वथा त्याज्य ही है। उसके लिए तो धर्म-ध्यान ही शेष रहता है, जो प्रशस्त भी है। इसलिए पौषध व्रत-धारी श्रावक को पौषध व्रत का समय धर्म-ध्यान में ही लगाना चाहिए।

शास्त्रकारों ने धर्म-ध्यान के आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय ये चार भेद बताये हैं। इन चारों भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—

१ आज्ञा-विचय—जैन सिद्धान्त में वस्तु-स्वरूप का जो वर्णन है, सर्वज्ञ वीतराग भगवान् की आज्ञा को प्रधानता देकर उस वस्तु-स्वरूप का चिन्तन करना, आज्ञा-विचय नाम का धर्म-ध्यान है। यह आज्ञा दो प्रकार की है। एक तो आगम-आज्ञा और दूसरी हेतुवाद-आज्ञा। आगम-आज्ञा वह है, जो आप्त वचन द्वारा प्रतिपादित होने पर ही प्रमाण मानी जावे और हेतुवाद आज्ञा वह है, जो अन्य प्रमाणों से भी प्रतिपादित हो।

२ अपाय-विचय—आत्मा का अहित करने वाले कर्मों का नाश किस तरह हो, इस विषयक विचार करते हुए यह सोचना

कि अज्ञान एवं प्रमाद के वश होकर इन कर्मों का संचय मैंने ही किया है। अब श्री देव गुरु की कृपा से मेरे आत्मा में जिनेश्वर भगवान् के वचनों का प्रकाश हुआ है, इसलिए आत्मा को ऐसे कर्म से बचाऊँ जिससे मुझे फिर इस दुःख रूपी अपाय का अनुभव न करना पड़े। इस तरह का विचार करना, अपाय-विचय नाम का धर्म-ध्यान है।

३ विपाक-विचय—किये हुए कर्म का फल (विपाक) दो तरह से अनुभव में आता है। शुभ कर्म के उदय से आत्मा को इष्ट पदार्थों का संयोग होता है तथा सुख मिलता है और अशुभ कर्म के उदय से अनिष्ट पदार्थों का संयोग तथा दुःख मिलता है। इस प्रकार कर्म के विपाक के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह मानना कि जो शुभाशुभ विपाक मिलता है वह मेरे किये हुए शुभाशुभ कर्म का ही परिणाम है। ऐसा विचारना, मानना, विपाक-विचय नाम का तीसरा धर्म-ध्यान है।

४ संस्थान-विचय—स्थिति, लय और उत्पात रूप आदि अन्त रहित लोक का चिन्तवन करना, संस्थान-विचय है। ऐसा लोक तीन भागों में विभक्त है, ऊर्ध्व लोक, अधः लोक और तिर्यक् लोक। प्रत्येक लोक में कौन-कौन जीव रहते हैं, उनकी गति, स्थिति क्या है और उन्हें कैसे सुख, दुःख का अनुभव करना होता है, इसका भिन्न-भिन्न विचार करना, संस्थान-विचय नाम का चौथा धर्म-ध्यान है।

धर्म-ध्यान के आज्ञा रुचि, नैसर्ग रुचि, सूत्र रुचि और अवगाढ़ रुचि ये चार लक्षण कहे गये हैं। इन लक्षणों से धर्म ध्यान की पहचान होती है। इन लक्षणों का स्वरूप इस प्रकार है:—

१ आज्ञा रुचि—भगवान् तीर्थङ्कर ने तप, संयम की आराधना के लिए जिन कार्यों का विधान किया है, उन कार्यों के विधायक वचनों पर श्रद्धा होना, आज्ञा रुचि है।

२ नैसर्ग रुचि—बिना किसी के उपदेश के ही, क्षयोपश भाव की विशुद्धि से जाति-स्मृति आदि ज्ञान होकर तत्त्वों पर श्र होना, नैसर्ग रुचि है।

३ सूत्र रुचि—आप्त प्रतिपादित सूत्रों का अभ्यास क रहने से तत्त्वों पर श्रद्धा होना, सूत्र रुचि है।

४ अवगाढ़ रुचि—मुनि, महात्माओं की सेवा में रह उनका उपदेश सुनने से तत्त्वों पर श्रद्धा होना, अवगाढ़ रुचि है

धर्म-ध्यान के चार अवलम्बन हैं। अवलम्बन यानि आधा जिसके सहारे धर्म-ध्यान किया जा सके। ऐसे अवलम्बनों नाम—वाचना, पृच्छना, पर्यटना और अनुप्रेक्षा हैं। थोड़े में चारों की व्याख्या भी की जाती है।

(१) सत्साहित्य का बांचन, वाचना है। सत्साहित्य है, जिसके अध्ययन से आत्मा में तप, संयम, अहिंसा आदि भावना उत्पन्न हो या वृद्धि पावे।

(२) सत्साहित्य के वांचन से हृदय में जो प्रश्न उत्पन्न हों, उनका समाधान करने के लिए गुरु महाराज से पूछना, पृच्छना है।

(३) सीखे यानि प्राप्त किये हुए ज्ञान का बार-बार चिन्तन करना और प्राप्त ज्ञान दृढ़ करना, परियटना है।

(४) प्राप्त ज्ञान के अर्थ एवं भेदोपभेद को जानने के लिए उस पर विचार करना, अनुप्रेक्षा है।

धर्म-ध्यान के चार अनुप्रेक्षा भी हैं—एकानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और संसारानुप्रेक्षा। हृदय में उत्पन्न विचारधारा यानि भावना को अनुप्रेक्षा कहते हैं। इन चारों अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप भी थोड़े में बताया जाता है:—

१ एकानुप्रेक्षा—आत्मा को समस्त साँसारिक संयोगों से भिन्न तथा अकेला मान कर तत्सम्बन्धी भावना करना, एकानुप्रेक्षा है।

२ अनित्यानुप्रेक्षा—समस्त सांसारिक एवं पौद्गलिक संयोगों को अनित्य (सदा न रहने वाले) मान कर तत्सम्बन्धी भावना करना, अनित्यानुप्रेक्षा है।

३ अशरणानुप्रेक्षा—समस्त सांसारिक सम्बन्धों के लिए यह मानना कि ये मेरे लिए शरणदाता नहीं हो सकते और ऐसा मान कर तत्सम्बन्धी भावना करना, अशरणानुप्रेक्षा है।

४ संसारानुप्रेक्षा—संसार के जन्म, मरण के क्रम एवं आवागमन सम्बंधी विचार करके किसी से स्नेह न रखने की भावना करना, संसारानुप्रेक्षा है।

पौषध व्रत-धारी श्रावक को अपना समय इस तरह धर्म-ध्य में ही बिताना चाहिए। साथ ही उन दोषों से बचे रहना चाहि जिनसे पौषध व्रत दूषित होता है। ऐसे दोषों से बचने के लि उन दोषों की जानकारी होना आवश्यक है। उनमें से कुछ ऐसे हैं, जो पौषध व्रत स्वीकार करने से पहिले करने पर भी दूषित होता है और कुछ ऐसे हैं जो पौषध व्रत स्वीकार करने किये जाने से व्रत दूषित होता है।

पौषध के निमित्त से १ सरस आहार करना, २ मैथुन कर ३ केश, नख कटाना, ४ वस्त्र धुलाना, ५ शरीर मण्डन कर और ६ सरलता से न खुल सकने वाले आभूषण पहनना, छः दोष पौषध करने से पूर्व के हैं। इनके सिवाय बारह दोष वे जो पौषध व्रत स्वीकार करने के पश्चात् आचरण में आने पर दूषित होता है। वे बारह दोष इस प्रकार हैं:—

जो व्रत-धारी नहीं है, उसकी ७ व्यावच (सेवा) करना अथ उससे व्यावच कराना या ऐसे व्यक्ति को आदर देना, ८ शरीर पसीना होने पर शरीर को मल कर मैल उतारना, ९ दिन में नीं लेना, रात में एक प्रहर रात जाने से पहले ही सो जाना अथ

पिछली रात को धर्म-जागरण न करना, १० बिना पूँजे शरीर खुजलाना, ११ बिना पूँजे परठना, १२ निन्दा या विकथा करना, १३ भय खाना या भय देना, १४ सांसारिक बातचीत या कथा वार्ता करना कहना, १५ स्त्री के अंगोपांग निहारना, १६ खुले मुँह अयत्ना से बोलना, १७ कलह करना और १८ किसी सांसारिक नाते से बुलाना। जैसे–पौपध व्रत-धारी को काकाजी, मामाजी, ससुराजी, सालाजी आदि नाते से न बोलना चाहिये।

ये दोप पौपध व्रत को दूषित करते हैं, इसलिए इन दोषों से बचे रहना चाहिए। साथ ही दृढ़, सहनशील एवं शान्त रहना चाहिए। कई बार पौपध व्रतधारी को अनेक प्रकार के परिषह उपसर्ग भी होते हैं। यदि उस समय सहनशीलता न रहो तो पौषध व्रत भंग हो जाता है। उपासक दशाङ्ग सूत्र में चुलनी पिता आदि श्रावकों का वर्णन है। जिनमें से कई श्रावकों को पौषध व्रत से विचलित करने के लिए देव गया। देव ने उनके सामने अनेक भयंकर दृश्य उपस्थित किये। उनके पुत्रों को लाकर उन्हीं के सामने मार डाला और मृत शरीर के टुकड़े तेल के कड़ाह में डाल कर पुत्रों का रुधिर मांस व्रत में बैठे हुए पिता (श्रावक) के शरीर पर छींटा। जब यह सब करने पर भी वे श्रावक अविचल रहे, तब किसी की माता को मारने का कहा, किसी की पत्नि को मारने का भय दिखाया, किसी को रोग का भय

दिखाया और किसी को धन-हरण का। इस तरह के सोमातीत भयंकर दृश्यों को देखकर व सुनकर उन व्रतधारी श्रावकों की सहनशीलता कायम न रही। वे उस देव को पकड़ने के लि उठे, लेकिन उनके हाथ वह देव न आया किन्तु थम्भा आया उस थम्भे को पकड़ कर उन श्रावकों ने जोर से हल्ला किया।

इस तरह के वर्णन देकर शास्त्रकार उन श्रावकों के लि 'भग्ग वए' 'भग्ग पोसए' लिखते हैं। यानि यह लिखते हैं कि उ श्रावकों का व्रत और पौषध भंग हो गया। इस पर से सम लेना चाहिए कि पौषध व्रत को अभंग रखने के लिए श्रावक को कैसा सहनशील रहना चाहिए। जो अपना पौषध व्रत अभंग रखना चाहता है, वह मरणदायक उपसर्ग भी शान्तिपूर्वक स लेता है। किन्तु उपसर्ग से विचलित होकर व्रत भंग नहीं करता है। महाराजा उदायन पौषध व्रत में थे, तब रात के समय ए साधु वेशधारी ठग ने उनको घोर उपसर्ग दिया अर्थात् उनके प्राण ले लिये। यदि महाराज उदायन चाहते तो वे हो-हल्ला कर सकते थे और उस दशा में सम्भव था कि उनके प्राण भी बच जावें अथवा वह ठग पकड़ा भी जाता। लेकिन वे उस स्थिति में भी सहनशील हो रहे। इस तरह की क्षमा, सहनशीलता और दृढ़ता से ही उन्होंने तीर्थंकर नाम गोत्र का उपार्जन किया तथा वे अगली चौबीसी में तीसरे तीर्थंकर भगवान् होंगे।

प्रतिकूल परिषह की ही तरह अनुकूल परिषह होने पर भी पौषध व्रत-धारी श्रावक को दृढ़ ही रहना चाहिए। कैसा भी अनुकूल परिषह हो, विचलित न होना चाहिए। भगवान् शान्तिनाथ के पूर्व भवों के वर्णन में एक जगह कहा गया है कि एक समय महाराजा मेघरथ पौषध व्रत में बैठे हुए थे। उसी समय ईशान्यकल्प (स्वर्ग) में ईशान्येन्द्र महाराज ने अपनी इन्द्रानियों की सभा में प्रसंगवश राजा मेघरथ की प्रशंसा करते हुए कहा कि पौषध व्रत में बैठे हुए महाराजा मेघरथ को धार्मिक वृत्ति से विचलित करने में कोई भी समर्थ नहीं है। ये ही महाभुज भविष्य में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में शान्तिनाथ नाम के पंचम चक्रवर्ती और सोलहवें तीर्थङ्कर होंगे।

इन्द्र द्वारा की गई महाराजा मेघरथ की प्रशंसा सुनकर अन्य इन्द्रानियाँ तो प्रसन्न हुईं, लेकिन सुरूपा और अतिरूपा नाम की इन्द्रानियों ने महाराजा मेघरथ की धर्मदृढ़ता की परीक्षा लेने का विचार किया। वे दोनों अप्सराएँ मर्त्यलोक में वहाँ आईं, जहाँ महाराजा मेघरथ पौषधशाला में पौषधव्रत धारण करके ध्यानस्थ थे। उन अप्सराओं ने स्त्रियोचित हाव-भाव एवं कामोद्दीपक राग-रंग द्वारा महाराजा मेघरथ को विचलित करने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु महाराजा मेघरथ अविचल ही रहे और क्षुभित न हुए। जब रात समाप्त हो चली और प्रातःकाल होने लगा, तब वे

अप्सराएँ हार मान कर, अपनी लीला समेट महाराजा मेघरथ को नमन करके तथा अपने अपराध के लिए क्षमा माँग कर अपने स्थान को गईं।

मतलब यह है कि पौषध व्रतधारी श्रावक को अनुकूल परिषह होने पर भी दृढ़ रहना चाहिए, विचलित न होना चाहिए। चाहे अनुकूल परिषह हों या प्रतिकूल परिषह हों, धैर्य पूर्वक उन्हें सह कर अविचल रहने और उनके प्रतिकार की भावना न करने पर ही पौषध व्रत अभंग रहता है। यदि परिषह के कारण विचलित हो उठा, परिषह के प्रतिकार अथवा परिषह देने वाले को दण्ड देने का प्रयत्न किया या ऐसी भावना की, तो उस दशा में पौषध व्रत भङ्ग हो जावेगा। परिषह देने वाले को दण्ड देने की बात तो दूर रही, उसके प्रति कठिन शब्द का प्रयोग करने पर भी व्रत दूषित हो जाता है।

महाशतक श्रावक जब गृह कार्य त्याग कर और प्रतिमा वहन कर रहे थे, तब तथा संथारा कर चुके थे, तब इस तरह दो बार उनकी पत्नी रेवती श्रृंगार करके महाशतकजी को विचलित करने के लिए महाशतकजी के पास गई। वह महाशतकजी के सामने अनेक प्रकार के हाव-भाव करने लगी तथा महाशतकजी को विषय-भोग का आमन्त्रण देने लगी। उसने इस तरह बहुत प्रयत्न किया लेकिन महाशतकजी दृढ़ ही बने रहे। रेवती, प्रथम

बार तो निराश होकर लौट गई, लेकिन दूसरी बार संथारा में फिर महाशतकजी के पास जाकर महाशतकजी को विचलित करने का प्रयत्न करने लगी। उस समय महाशतकजी को अवधिज्ञान हो गया था। महाशतकजी ने अवधिज्ञान द्वारा रेवती का भविष्य जानकर आवेश में आ रेवती से कहा कि तू निरर्थक कष्ट क्यों उठाती है। शीघ्र ही तुझे अर्श रोग होगा, जिससे तू आज के सातवें दिन मर कर रत्नप्रभा नाम की प्रथम पृथ्वी में चौरासी हजार वर्ष की आयु वाले नारकीय जीव के रूप में उत्पन्न होगी। महाशतकजी का यह कथन सुनकर, रेवती भयभीत होकर वहाँ से चली गई और आरत-रौद्र ध्यान करती हुई मर कर नर्क में गई।

यद्यपि महाशतकजो ने जो कुछ कहा था वह सत्य ही था, परन्तु था अप्रिय। इसलिए भगवान् ने महाशतकजी का व्रत दूषित हुआ मानकर गौतमस्वामी द्वारा महाशतकजी को आलोचना, प्रायश्चित्त करने की सूचना दी। महाशतकजी ने भगवान् की सूचना शिरोधार्य की और वैसा ही किया।

मतलब यह है कि पौषध व्रत-धारी को अप्रिय एवं कठोर सत्य बात भी न कहनी चाहिए। इसी तरह उन सब मानसिक, वाचिक तथा कायिक कार्यों से बचे रहना चाहिए, जिनसे पौषध व्रत दूषित होता है और वे ही कार्य करने चाहिएँ जिनके करने से धर्म पुष्ट होता है।

पौषधोपवास व्रत के अतिचार

इस ग्यारहवें पौषधोपवास का उद्देश्य प्रमादावस्था से आत्मा को निकाल कर अप्रमत्तावस्था में स्थित होना है। इसलिए इस व्रत में प्रमाद को किंचित् भी स्थान नहीं है। थोड़ा भी प्रमाद करने पर पौषधोपवास व्रत दूषित हो जाता है पौषधोपवास व्रत किस-किस तरह के प्रमाद से दूषित होता यह बताने के लिए भगवान ने पौषधोपवास व्रत के पाँच अतिच बताये हैं, जो इस प्रकार हैं:—

१ अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित शैया संथारा—पौष के समय काम में लिये जाने वाले पाट, पाटला, बिछौना, संथा आदि का प्रतिलेखन न करना, अथवा विधि-पूर्वक प्रतिलेखन

करना, यानि मन लगा कर प्रतिलेखन की विधि से प्रतिलेखन न करना और इस प्रकार के शैया, संथारा को काम में लेना, अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित शैया संथारा नाम का अतिचार है।

प्रतिलेखन प्रातःकाल भी होना चाहिए और सायंकाल भी, रात के समय अन्धेरे में छोटे जीव नहीं दिख सकते। इसलिए सायंकाल को ही प्रतिलेखन कर लिया जाता है, जिसमें बिछौने आदि में कोई जीव न रह जाय और उसकी विराधना न हो जाय। रात्रि समाप्त होने के पश्चात् प्रातःकाल बिछौना आदि का प्रतिलेखन यह देखने के लिए किया जाता है कि रात के समय मेरे द्वारा किसी जीव की विराधना तो नहीं हुई है! यदि हुई हो तो उसका प्रायश्चित किया जावे।

२ अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शैया संथारा—पाट-पाटला, बिस्तर आदि परिमार्जन न करना, अथवा विधि रहित परिमार्जन करना, अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शैया संथारा नाम का दूसरा अतिचार है।

प्रतिलेखन और परिमार्जन में अन्तर है, इसी से दोनों के विषय में अलग-अलग अतिचार कहे गये हैं। प्रतिलेखन दृष्टि द्वारा होता है। यानि दृष्टि से देख लिया जाता है कि कोई जीव तो नहीं है। लेकिन परिमार्जन, पूँजनी या रजोहरण द्वारा होता है। दिन के प्रकाश में तो प्रतिलेखन किया जाता है, लेकिन प्रकाश न

होने के कारण जब प्रतिलेखन नहीं हो सकता, तब रात्रि आदि में रजोहरण या पूँजनी द्वारा परिमार्जन किया जाता है और इस प्रकार यत्ना की जाती है।

३ अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवन भूमि— शरीर-चिन्ता से निवृत्त होने के लिए त्यागे जाने वाले पदार्थों को त्यागने के स्थान का प्रतिलेखन ही न करना या भली प्रकार प्रतिलेखन न करना, अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवन भूमि नाम का अतिचार है।

४ अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवन भूमि— तीसरे अतिचार में जिस स्थान का वर्णन किया गया है, उस स्थान का परिमार्जन न करना या भली प्रकार परिमार्जन न करना, अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवन भूमि नाम का अतिचार है।

५ पौषधोपवास सम अननुपालन—पौषधोपवास व्रत का सम्यक् प्रकार से उपयोग सहित पालन न करना या सम्यक् रीति से पूरा न करना, पौषधोपवास सम अननुपालन नाम का अतिचार है।

इन अतिचारों से बचे रहने पर व्रत निर्दोष रहता है और आत्मा का उत्थान होता है।

अतिथि-संविभाग व्रत

अतिथि-संविभाग व्रत

श्रावक के बारह व्रतों में से बारहवाँ और चार शिक्षा व्रतों में से चौथा व्रत अतिथि-संविभाग है। श्रावक का जीवन कैसा धार्मिक हुआ है, श्रावक होने के पश्चात् जीवन में क्या विशेषता आई है और पाँच अणुव्रत तथा तीन गुणव्रत के पालन का प्रभाव उसके जीवन पर कैसा पड़ा है आदि बातों को जानने का साधन श्रावक के चार शिक्षा व्रत हैं। चार शिक्षा व्रत में से प्रथम के तीन शिक्षा व्रत का लाभ तो श्रावक को ही मिलता है, लेकिन चौथे अतिथि-संविभाग व्रत का लाभ दूसरे को भी मिलता है। इस व्रत का पालन करने से बाह्य जगत को यह ज्ञात होता है कि जैन दर्शन कैसा विशाल है और जैन धर्म-पालन करने वाले में विश्वबन्धुत्व की भावना कैसी प्रौढ रहती है।

अतिथि-संविभाग का अर्थ है, अतिथि के लिए विभाग करना। जिसके आने का कोई दिन या समय नियत नहीं है, जो बिना सूचना दिये अनायास आ जाता है, उसे अतिथि कहते हैं। ऐसे अतिथि का सत्कार करने के लिए भोजनादि पदार्थ में विभाग करना अतिथि-संविभाग है और ऐसा करने की प्रतिज्ञा करने का नाम अतिथि संविभाग व्रत है। सूत्रों में इस व्रत को 'अहा संविभाग व्रत' कहा है, जिसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार लिखते हैं—

यथा सिद्धस्य स्वार्थं निर्वर्तितं तस्स्येत्यर्थः असनादिः समिति संगतत्वेन पश्चात्कर्मादि दोप परिहारेण विभजनं साधवेः दानद्वारेण विभाग करणं यथा संविभागः।

अर्थात्—अपने लिए बनाये हुए आहारादि में से, जो साधु एषणा समिति सहित पश्चात् कर्म दोष का परिहार करके अशनादि ग्रहण करते हैं, उनको दान देने के लिए विभाग करना अतिथि-संविभाग व्रत है।

जो महात्मा आत्मज्योति जगाने के लिए सांसारिक खटपट त्याग कर संयम का पालन करते हैं, सन्तोष वृत्ति को धारण करते हैं उनको जीवन-निर्वाह के लिए अपने वास्ते तय्यार किये हुए आहरादि में से उन श्रमण-निग्रन्थों के कल्पानुसार दान देना, यथा संविभाग व्रत है। साधु महात्मा को श्रावक अपने लिए बनाई गई चीजों में से कौन कौन-सी चीजें दे सकता है और

साधुओं को किन-किन चीजों का दान देना श्रावक का कर्त्तव्य है, यह बताने के लिए शास्त्र में निम्न पाठ आया है:—

कप्पइ में समणे निग्गन्थे फासु एसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुच्छणं तथा पडिहारे पीठ फलग सिज्झा संथारा ओसह भेसजेणं पडिलाभे माणे विहरई।

अर्थात्— (श्रावक कहता है) मुझे श्रमण-निर्ग्रन्थों को, अधः कर्मादि सोलह उद्गमन. दोप और अन्य छब्बीस दोप रहित प्रासुक एवं एपणिक (उन महात्माओं के लेने योग्य) अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कावल (जो शीतादि से बचने के काम में आता है,), पादपोंछन (जो जीव-रक्षा के लिए पूँजने के काम में आते हैं, वे रजोहरण या पूँजनी आदि), पीठ (बैठने के काम में आने वाले छोटे पाट), फलक (सोने के काम में आने वाले बड़े लम्बे पाट), शय्या (ठहरने के लिए घर), संथारा (बिछाने के लिए घास आदि), औपध और भेपज * ये चौदह प्रकार के पदार्थ जो उनके जीवन-निर्वाह में सहायक हैं, प्रतिलाभित करते हुए विचरना कल्पता है।

ऊपर जो चौदह प्रकार के पदार्थ बताये गये हैं, इनमें से प्रथम के आठ पदार्थ तो ऐसे हैं, जिन्हें साधु महात्मा लोग स्वीकार करने के पश्चात् दान देने वाले को वापस नहीं लौटाते, लेकिन शेष छः द्रव्य ऐसे हैं कि जिन्हें साधु लोग अपने काम में

---

* औपध उसे कहते हैं जो एक ही चीज को कूट या पीस कर बनाई हो और भेपज उसे कहते हैं जो अनेक चीजों के मिश्रण से बनी हो।

रखता है, जो साधु मुनिराज के काम में नहीं आ सकतीं, तो वह श्रावक मुनिराजों को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, पाट आदि चीजों से प्रतिलाभित कैसे कर सकता है! श्रावक का दूसरा नाम श्रमणोपासक यानि साधु का उपासक (सेवा करने वाला) है। मुनि महात्मा श्रावकों से शरीर सम्बन्धी सेवा तो लेते नहीं। इसलिए श्रावक, मुनिराजों की सेवा उन चीजों से मुनिराजों को प्रतिलाभित करने के रूप में ही कर सकता है कि जो चीजें मुनि महात्मा के संयमी जीवन में सहायक हो सकती हैं और वे भी मुनि महात्मा के लिए बनाई हुई न हों, किन्तु अपने या अपने कुटुम्बियों के उपयोग के लिए बनाई अथवा खरीदी हुई हों। ऐसी दशा में जब श्रावक मुनि महात्मा के काम में आने वाली चीजों का उपयोग ही न करता होगा, तब वह मुनि महात्माओं को ऐसी चीजों से प्रतिलाभित कैसे कर सकेगा! साधु मुनिराजों को प्रतिलाभित करने का लाभ वही व्यक्ति ले सकता है, जिसके पास ऐसी चीजें हों।

आज गृहस्थों की मनोवृत्ति कुछ ऐसी संकुचित हो रही है कि वे जितने कपड़े सिलवाने होते हैं, उतने ही के लिए बाजार से कपड़ा खरीद लाते हैं। उनके घर में बिना सिला हुआ कपड़ा मिलना कठिन होता है। इसके लिए आर्थिक दुरावस्था का बहाना भी असंगत है। क्योंकि आर्थिक दुरावस्था का बहाना तो तब ठीक

हो सकता है, जब सिले हुए कपड़े आवश्यकता से अधिक न हों। लेकिन होता यह है कि लोग इतने अधिक सिले हुए कपड़े भर रखते हैं, कि जो वर्षों तक रखे रहते हैं, और जिन्हें पहनने का क्रम ही नहीं आता है। इसलिए बिना सिला हुआ कपड़ा न रहने का कारण आर्थिक दुरावस्था नहीं हो सकता, किन्तु अविवेक ही हो सकता है। जिस में इस प्रकार का अविवेक है, वह मुनिराजों को प्रतिलाभित कैसे कर सकता है! यदि श्रावकों में इस विषयक विवेक हो, तो मुनिराजों को बजाज़ या पंसारी की दुकान पर वस्तु याचने के लिए क्यों जाना पड़े, जहाँ सचित द्रव्य के संघटे की सम्भावना रहती है और दूसरे दोषों की भी सम्भावना रहती है।

जैन शास्त्रों में धर्म के चार अंग प्रधान कहे गये हैं। जिनमें से दान-धर्म, धर्म की पहली सीढ़ी है। दान के भेदों में भी अभय-दान और सुपात्र-दान को ही श्रेष्ठ कहा गया है। सुपात्र-दान वह है, जिसका द्रव्य भी शुद्ध हो, दाता भी शुद्ध हो और पात्र भी शुद्ध हो। इन तीनों का संयोग मिलने पर महान् लाभ होता है।

द्रव्य शुद्ध हो, इस कथन का मतलब वस्तु की श्रेष्ठता नहीं है, किन्तु यह मतलब है कि जो द्रव्य अधः कर्मादि १६ दोषों से रहित हो, तथा जो मुनि महात्माओं के तप, संयम का सहायक एवं वर्द्धक हो। ऐसा ही द्रव्य शुद्ध माना जाता है। दाता वह

शुद्ध है, जो बिना किसी प्रति-फल की इच्छा अथवा स्वार्थ-भावना के दान देता है तथा जिसके हृदय में पात्र के प्रति श्रद्धा भक्ति हो। पात्र वह शुद्ध है, जो गृह-प्रपंच को त्याग कर संयम पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा हो और जो संयम का पालन करने के लिए ही दान ले रहा हो। इन तीनों बातों का ऐकीकरण होने पर ही श्रावक इस बारहवें व्रत का लाभ पाता है। बारहवें व्रत के पाठानुसार तो व्रत की व्याख्या यहाँ ही पूर्ण हो जाती है परन्तु इस व्रत का उद्देश्य केवल मुनि महात्माओं को ही दान देना इतना ही नहीं है, किन्तु श्रावक के जीवन को उदार एवं विशाल बनाना भी इस व्रत का उद्देश्य है। जीवन के लिए जो अत्यन्त आवश्यक है, उस भोजन में भी जब श्रावक दूसरे के लिए विभाग करता है, तब दूसरी ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है, जिसमें श्रावक दूसरे का विभाग न करे, किन्तु जिसके अभाव में दूसरे लोग दुःख पावें और श्रावक उसको अनावश्यक ही भण्डार में ताले में बन्द कर रक्खे। श्रावक अपने पास के समस्त पदार्थों में दूसरे को भाग दे देता है और पदार्थ पर से ममत्व उतार कर दूसरे की भलाई कर सकता है क्योंकि श्रावकपन स्वीकार करने के पश्चात् श्रावकवृत्ति स्वीकार करने वाले का जीवन ही बदल जाता है। श्रावकपन स्वीकार करने वाले के लिए शास्त्र में कहा गया है:—

समणो वासए जाए अभिगए जीवा जीवे जाव पडिलामे माणे विरहई।

अर्थात्—वह श्रमणोपासक अवस्था में जन्मा है और जीव अजीव का ज्ञाता होकर यावत् प्रतिलाभित करता हुआ विचरता है।

इस पाठ के द्वारा श्रावक को द्विजन्मा कहा गया है। श्रावक का एक जन्म श्रावकपन स्वीकार करने के पहले होता है और दूसरा जन्म श्रावकपन स्वीकार करने के पश्चात होता है। श्रावक होने से पहिले वह व्यक्ति जिन भोग्योपभोग्य पदार्थों में आसक्त रहता था, ममत्वपूर्वक जिनका संग्रह करता था और जिनके लिए क्लेश, कंकाश एवं महान् अनर्थ करने के लिए उतारू हो जाता था, वही श्रावक होने के पश्चात् उन्हीं पदार्थों को अधिकरण रूप (कर्म बन्ध का कारण) मानता है और उनसे ममत्व घटाता है तथा संचित सामग्री से दूसरे को सुख-सुविधा पहुँचाता है। इस प्रकार श्रावकत्व स्वीकार करने के पश्चात् मनुष्य की भावना भी बदल जाती है और कार्य भी बदल जाते हैं। उसकी भावना विशाल हो जाती है। ऐसा होने पर ही श्रावक अपने लिए लगाये गये 'द्विजन्मा' विशेषण को सार्थक कर सकता है, लेकिन यदि श्रावक होने पर भी सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्व बढ़ा हुआ ही रहा, दीन दुःखियों को सुखी बनाने की भावना न आई तो उस दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि उसका 'द्विजन्मा' विशेषण सार्थक है!

आज के बहुत से श्रावक दूसरे का हित करने और दूसरे का दुःख मिटाने के समय आरम्भ, समारम्भ की दुहाई देने लगते हैं, और आरम्भ, समारम्भ से बचने के नाम पर कृपणता एवं अनुदारता का व्यवहार करते हैं। लेकिन ऐसा करना बड़ी भूल है। अपने भोग-विलास एवं सुख-सुविधा के समय तो आरम्भ, समारम्भ की उपेक्षा करना और दीनों का दुःख मिटाने के समय आरम्भ, समारम्भ की आड़ लेना कैसे उचित हो सकता है! श्री भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पाँचवें उद्देश्ये में तुंगिया नगरी के श्रावकों की ऋद्धि का इस प्रकार वर्णन है:—

> अड्ढा दित्ता विच्छिण्ण विपुल भवण सयणासण जाण वाहणाइण्णा बहुधण बहुजाय रूव रयया आओग पाओग सम्पउत्ता विच्छड्डिय विपुल भत्त पाणा बहु दासी दास गो महिस गवेलग पभुआ, बहु जणस्स अपरिभुया, अभिंगय जीवा जीवा जाव उसिय फलिहा अभंग दुवारा।

इस पाठ से स्पष्ट है कि तुंगिया नगरी के श्रावकों के यहाँ बहुत से दासी-दास एवं पशुओं का पालन होता था, बहुत-सा भात, पानी निपजता था और उनकी सहायता से बहुत लोगों की आजीविका चलती थी। इस कारण उनके यहाँ अधिक आरम्भ, समारम्भ का होना स्वाभाविक ही है। वे श्रावक होकर भी उनके यहाँ अधिक आरम्भ-सारम्भ होता था, तो क्या वे आरम्भ-समारम्भ

समणो वासए जाए अभिगए जीवा जीवे जाव
पडिलामे माणे विरहई।

अर्थात्—वह श्रमणोपासक अवस्था में जन्मा है और जीव अजीव का ज्ञाता होकर यावत् प्रतिलाभित करता हुआ विचरता है।

इस पाठ के द्वारा श्रावक को द्विजन्मा कहा गया है। श्रावक का एक जन्म श्रावकपन स्वीकार करने के पहले होता है और दूसरा जन्म श्रावकपन स्वीकार करने के पश्चात होता है। श्रावक होने से पहिले वह व्यक्ति जिन भोग्योपभोग्य पदार्थों में आसक्त रहता था, ममत्वपूर्वक जिनका संग्रह करता था और जिनके लिए क्लेश, कंकाश एवं महान् अनर्थ करने के लिए उतारू हो जाता था, वही श्रावक होने के पश्चात् उन्हीं पदार्थों को अधिकरण रूप (कर्म बन्ध का कारण) मानता है और उनसे ममत्व घटाता है तथा संचित सामग्री से दूसरे को सुख-सुविधा पहुँचाता है। इस प्रकार श्रावकत्व स्वीकार करने के पश्चात् मनुष्य की भावना भी बदल जाती है और कार्य भी बदल जाते हैं। उसकी भावना विशाल हो जाती है। ऐसा होने पर ही श्रावक अपने लिए लगाये गये 'द्विजन्मा' विशेषण को सार्थक कर सकता है, लेकिन यदि श्रावक होने पर भी सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्व बढ़ा हुआ ही रहा, दीन दुःखियों को सुखी बनाने की भावना न आई तो उस दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि उसका 'द्विजन्मा' विशेषण सार्थक है!

आज के बहुत से श्रावक दूसरे का हित करने और दूसरे का दुःख मिटाने के समय आरम्भ, समारम्भ की दुहाई देने लगते हैं, और आरम्भ, समारम्भ से बचने के नाम पर कृपणता एवं अनुदारता का व्यवहार करते हैं। लेकिन ऐसा करना बड़ी भूल है। अपने भोग-विलास एवं सुख-सुविधा के समय तो आरम्भ, समारम्भ की उपेक्षा करना और दीनों का दुःख मिटाने के समय आरम्भ, समारम्भ की आड़ लेना कैसे उचित हो सकता है! श्री भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पाँचवें उद्देश्ये में तुंगिया नगरी के श्रावकों की ऋद्धि का इस प्रकार वर्णन है:—

> अड्ढा दित्ता विच्छिण्ण विपुल भवण सयणासण जाण वाहणाइण्णा बहुधण बहुजाय रूव रयया आओग पाओग सम्पउत्ता विच्छड्डिय विपुल भत्त पाणा बहु दासी दास गो महिस गवेलग पभुआ, बहु जणस्स अपरिभुया, अभिगय जीवा जीवा जाव उसिय फलिहा अभंग दुवारा।

इस पाठ से स्पष्ट है कि तुंगिया नगरी के श्रावकों के यहाँ बहुत से दासी-दास एवं पशुओं का पालन होता था, बहुत-सा भात, पानी निपजता था और उनकी सहायता से बहुत लोगों की आजीविका चलती थी। इस कारण उनके यहाँ अधिक आरम्भ, समारम्भ का होना स्वाभाविक ही है। वे श्रावक होकर भी उनके यहाँ अधिक आरम्भ-सारम्भ होता था, तो क्या वे आरम्भ-समारम्भ

को नहीं समझते थे! क्या आरम्भ-समारम्भ को घटाने विषयक तत्त्व को वे नहीं मानते थे! वे इस तत्त्व को न जानते रहे हों, यह सम्भव नहीं। क्योंकि उक्त वर्णन में आगे चल कर तुंगिया नगरी के श्रावकों के लिए कहा गया है कि वे आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष, इन तत्त्वों में कुशल थे। ऐसा होते हुए भी, वे दूसरे लोगों का पालन करने के समय आरम्भ, समारम्भ की आड़ नहीं लेते थे। क्योंकि उनमें उदारता थी, दया थी। आज के लोग शास्त्र में वर्णित बातों को पूरी तरह समझने के बदले, उनका दुरुपयोग कर डालते हैं। शास्त्रकारों ने इस विषय को स्पष्ट करने के लिए ही उनकी द्रव्य ऋद्धि व उनके कार्य आदि का विवरण दिया है और साथ ही यह भी बता दिया कि वे कैसे तत्त्वज्ञ थे। इतना ही नहीं, किन्तु उनकी उदारता का भी परिचय दिया है और यह भी बताया है कि जनहित के समय वे आरम्भ-समारम्भ की आड़ नहीं लिया करते थे।

मतलब यह है कि श्रावक अनुदार या कृपण नहीं होता है किन्तु वह अपनी वस्तु का लाभ दूसरे लोगों को भी देता है ज्ञाता सूत्र के आठवें अध्ययन में अरणक श्रावक का वर्णन है उस वर्णन में कहा गया है कि जब अरणक श्रावक व्यापार के लिए विदेश जाने को तय्यार हुआ, तब उसने अपने कुटुम्बियों एवं सजातियों को आमन्त्रित करके प्रीति-भोजन कराया और

फिर उनसे स्वीकृति लेकर विदा हुआ। वह अपने साथ बहुत से उन लोगों को भी ले गया था, जो व्यापार करने की इच्छा रखते थे। समुद्र में एक देव ने अरणक को धर्म से विचलित करने के लिए उपसर्ग दिये, लेकिन अरणक अविचल ही रहा। तब वह देव अरणक को दो जोड़े दिव्य कुण्डल के देकर चला गया। अरणक ने उन दिव्य कुण्डलों पर भी ममत्व नहीं किया, किन्तु दूसरे को भेंट कर दिये।

राज प्रसेनी सूत्र के अनुसार राजा परदेशी ने श्रावक होते ही यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं राज्य की आय के चार भाग करूँगा, जिनमें से एक भाग दानशाला में व्यय किया करूँगा जिससे श्रमण माहण आदि पथिकों को शान्ति मिला करे।

इस तरह के वर्णनों से स्पष्ट है कि श्रावक कृपण नहीं होता है, किन्तु उदार होता है। वह दूसरे की भलाई से सम्बन्धित कामों के प्रसंग पर आरम्भ-समारम्भ या दूसरी कोई आड़ लेकर बचने का प्रयत्न नहीं करता है। बल्कि वह जनहित का भी वैसा ही ध्यान रखता है, जैसा ध्यान अपना या कुटुम्ब के लोगों के हित का रखता है। बल्कि कभी-कभी वह, दूसरे की भलाई के लिए अपने आप को भी कष्ट में डाल देता है। ऐसे ही श्रावक, धर्म की प्रशंसा भी कराते हैं तथा राजा प्रजा में आदर भी पाते हैं।

उपासक दशाङ्ग सूत्र में आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए

कहा गया है कि आनन्द श्रावक बहुत से राजा, राजेश्वर, तलवर, (कोतवाल) माडम्बी, कौटुम्बी, सेठ, सेनापति, सार्थवाह आदि को कार्य में, कार्य के कारण में, मंत्र (सलाह) में, कुटुम्ब की व्यवस्था में, गुप्त विचारों में, रहस्य की बातों में, किसी बात के निश्चय पर आने में, व्यवहार कुशल था, पूछने लायक था और बार-बार पूछने लायक था। वह, उस नगर में मेढ़ी-प्रमाण आधार-भूत, आलम्बन-भूत, चक्षु-भूत एवं मार्गदर्शक था। यदि आनन्द श्रावक जनहित के कार्यों से आरम्भ-समारम्भ के नाम से या और किसी बहाने से बचा रहता, कृपणता और अनुदारता का व्यवहार करता होता, तो वह इस प्रकार की प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त कर सकता था! किसी मनुष्य का ऐसा प्रभाव तभी हो सकता है और उसे ऐसी प्रतिष्ठा भी तभी प्राप्त हो सकती है, जब उसमें सत्य के साथ ही उदारता भी हो।

धर्म में दान सब से पहला अंग है। सूत्रों में भी जहाँ किसी की ऋद्धि, सम्पदा आदि की प्राप्ति के कारण का प्रश्न किया गया है, वहाँ यह प्रश्न भी किया गया है कि इस व्यक्ति ने पूर्व जन्म में क्या दिया था। बल्कि दूसरे कारणों के विषय में प्रश्न करने से पहले इसी कारण के विषय में प्रश्न किया गया है। व्यवहार में भी वही व्यक्ति प्रतिष्ठित माना जाता है, जो उदार है। कृपण व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता, फिर चाहे वह कैसा भी क्यों न हो।

उदार व्यक्ति की कीर्त्ति, उस व्यक्ति के न रहने पर भी अमिट रहती है। बल्कि लोग प्रातःकाल उन लोगों का स्मरण विशेष रूप से करते हैं जो दान के द्वारा अपनी कीर्त्ति फैला गये हैं। इस विषय में पंडित कालीदास द्वारा कहा गया यह श्लोक भी प्रसिद्ध है:—

देयं भोज्य धनं धनं सुकृतिभिर्नो, संचयस्तस्वैः
श्री कर्णस्य वलेश्च विक्रम पते, रद्यापि कीर्त्तिस्था।
अस्माकं मधुदान भोग रहितं, नष्टं चिरात् संचितं
निर्वाणादिति नैज पाद युगलं, घर्षन्ति यो मक्षिकाः॥

(चाणक्यनीति अध्याय ११ वाँ)

कहा जाता है कि राजा भोज ने एक मक्खी को पैर घिसते देख कर, कालिदास से प्रश्न किया कि यह मक्खी क्या कहती है? भोज के इस प्रश्न के उत्तर में कालिदास ने उक्त श्लोक कहा। इस श्लोक का भावार्थ यह है कि 'हे राजा भोज! तुम्हारे पास जो धन है, वह सुकृत में लगा दो, संचय करके न रखो। कर्ण बलि और विक्रम को विमल कीर्त्ति इस भूतल पर अब तक भी इसी कारण फैली हुई है कि उनने अपने पास का धन सुकृत में लगाया था। मैंने (शहद की मक्खी ने) अपना मधु रूपी द्रव्य न तो किसी को दिया, न स्वयं ही खाया। परिणाम यह हुआ कि वह मेरा चिर संचित द्रव्य नष्ट हो गया, यानि लोग लूट कर ले गये। मैं अपनी इस कृपणता के लिए पैर घिस कर पश्चाताप करती हूँ। जो

लोग मेरी तरह कृपण रहेंगे, उन्हें भी इसी प्रकार पश्चाताप करना पड़ेगा। क्योंकि कृपण का धन दान या भोग में नहीं लगता, किन्तु व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है।'

धन किसी न किसी मार्ग से जाता जरूर है। वह एक जगह स्थिर नहीं रहता। फिर दान देकर उसका सदुपयोग क्यों न कर लिया जावे! भर्तृहरि ने कहा है:—

दानं भोगो नाशस्ति स्रो, गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति॥
(नीति शतक)

अर्थात्—धन की दान, भोग और नाश ये तीन गतियें हैं। यानि दान देने से जाता है, भोग में लगाने से जाता है या नष्ट हो जाता है। जो धन न दान में दिया जाता है, न भोग में लगाया जाता है, उसकी तीसरी गति अवश्यंभावि है। यानि नष्ट हो जाता है।

दान और भोग में न आया हुआ धन जब नष्ट ही हो जाता है, तब दान द्वारा उसका सदुपयोग ही क्यों न कर लिया जावे! क्योंकि ऐसा न करने पर धन तो नष्ट हो ही जावेगा, तब पश्चाताप के सिवाय और यच पावेगा ही क्या? इस बात को दृष्टि में रख कर ही, श्रावक के लिए उदारता रखने का उपदेश दिया जाता है। जो श्रावक इस उपदेश को कार्यान्वित करता है, वह अपने आत्मा का भी कल्याण करता है और संसार में जैन धर्म का महत्व भी फैलाता है। लोग समझने लगते हैं कि जैन धर्मानुयायी

श्रावक धन के दास नहीं होते, किन्तु धन के स्वामी होते हैं और वे धन का सदुपयोग करते हैं, उनमें कृपणता नहीं होती, किन्तु उदारता होती है।

इस बारहवें व्रत का श्रेष्ठतम आदर्श तो है श्रमण निग्रन्थों को उनके कल्पानुसार प्रासुक और एषणिक चौदह प्रकार का आहार देना। जो संसार-व्यवहार और गृहादि को त्याग चुके हैं, जिनको शरीर-रक्षा के लिए आहार एवं वस्त्र तथा संयम पालन के लिए आवश्यक उपकरणों की ही आवश्यकता रहती है, जिनने अन्य सभी आवश्यकताएँ निःशेष कर दी हैं, ऐसे महात्माओं को दान देने का फल महान् है। इसलिए श्रावक का प्रयत्न यही रहना चाहिए कि ऐसे उत्कृष्ट पात्र को वह दान दे सके, और ऐसा दान देने के संयोग की प्राप्ति की ही भावना भी रखनी चाहिए। लेकिन इस तरह के संयोग विशेषतः उन्हीं लोगों को प्राप्त हो सकते हैं, जिनके द्वार अभंग हैं। यानि दान के लिए किसी के भी वास्ते बन्द नहीं हैं, किन्तु सभी अतिथियों के लिए खुले हैं। ऐसे लोगों को कभी ऐसे महात्माओं को दान देने का भी सुयोग मिल जाता है, जो गृह-संसार के त्यागी हैं और दान के उत्कृष्ट पात्र हैं। इसके विरुद्ध जिसका द्वार अतिथि के लिए बन्द रहता है, उसको ऐसा महान् शुभ संयोग किस प्रकार मिल सकता है! इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक राजा के हाथ में जहरी फोड़ा हो गया था। वैद्यों ने कहा कि यह फोड़ा प्राण-घातक है लेकिन यदि यह राजहंस की चोंच से फूट जावे, तो उस दशा में राजा के प्राण बच सकते हैं।

वैद्यों द्वारा बताये गये उपाय के विषय में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि कैसे तो राजहंस आवे और कैसे वह इस छाले को फोड़े! इस प्रश्न को हल करने के लिए राजा ने एक मकान बनवाया जिसकी छत में ऐसा छेद रखा कि राजा का हाथ तो नीचे रहे, लेकिन वह छाला छत के ऊपर निकला रहे। यह करके उसने छत पर पक्षियों के चुगने के लिए अन्न डलवाना प्रारम्भ किया। साथ ही, छाले के आस-पास हंसों के चुगने के लिए मोती भी डलवाने लगा। उस छत पर अन्न चुगने के लिए पक्षी आने लगे तथा पक्षियों को चुगते देखकर हंस भी आने लगे। होते-होते उन हंसों के साथ एक दिन राजहंस भी आ गया। राजहंस मोती चुगने लगा। मोती चुगते हुए राजहंस ने राजा के हाथ के छाले को मोती समझ कर उस पर भी चोंच मार दी, जिससे छाला फूट गया और राजा स्वस्थ हो गया।

यद्यपि उस राजा का उद्देश्य राजहंस को बुलाना था, लेकिन राजहंस तभी आया, जब दूसरे पक्षी आते थे। यदि राजा ने दूसरे पक्षियों के लिए चुगने का प्रबन्ध न किया होता, तो राजहंस

कैसे आ सकता था! इसी के अनुसार श्रावक का लक्ष्य तो है पंच महाव्रतधारी उत्कृष्ट पात्र को दान देना, लेकिन ऐसे महात्माओं को वह अतिथि रूप में अपने यहाँ तभी पा सकता है और तभी उन्हें दान भी दे सकता है, जब वह सामान्य अतिथि का सत्कार करता रहेगा और उन्हें दान देता रहेगा। ऐसा करते रहने पर, उसे कभी उन महात्माओं को दान देने का भी सुयोग मिल सकता है, जो दान के उत्कृष्ट पात्र हैं और जिन्हें दान देने पर महान् फल प्राप्त हो सकता है। इसलिए श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह सभी अतिथि का यथा शक्ति सत्कार करे। श्रावक के लिये शास्त्र में यह विशेषण आया है कि उसका अभंग द्वार सदा खुला ही रहता है।

कोई कह सकता है कि 'श्रावक का बारहवाँ व्रत पंच महाव्रतधारी मुनिराजों को आहारादि देने से ही निपजता है, इसलिए शास्त्र में उन्हीं को दान देने का विधान है। दूसरे को दान देने का विधान नहीं है, किन्तु निषेध पाया जाता है। उदाहरण के लिए उपासक दशाङ्ग सूत्र में आनन्द श्रावक के वर्णन में आया है कि आनन्द श्रावक ने यह प्रतिज्ञा की कि अब से मुझे अन्य तीर्थों को, अन्य तीर्थियों के देवों को और अन्य तीर्थियों द्वारा ग्रहीत जैन-साधु-लिंग को वन्दन नमस्कार करना, उनका आदर-सत्कार करना, उनके बोले बिना उनसे बोलना और उन्हें अशनादि देना

नहीं कल्पता है। इस वर्णन से अन्य लोगों को दान देना श्रावक के लिए निषिद्ध होना स्पष्ट ही है।'

इस प्रकार के कथन का समाधान यह है कि श्रावक के लिए धर्म-बुद्धि या गुरु-बुद्धि से यह सब करना निषिद्ध है। क्योंकि धर्म-बुद्धि या गुरु-बुद्धि से अन्यतीर्थी के साथ ऐसा व्यवहार करने पर मिथ्यात्व का पोषण होता है। श्रावक की देखा-देखी अन्य लोग भी अन्य तीर्थियों के साथ ऐसा व्यवहार कर सकते हैं जिससे मिथ्यात्व की वृद्धि होगी। इसलिए धर्म-बुद्धि या गुरु-बुद्धि से तो श्रावक के लिए, पंच महाव्रतधारी महात्माओं के सिवाय दूसरे लोगों को दान देना निषिद्ध ही है, लेकिन व्यवहार-बुद्धि, उपकार-बुद्धि या अनुकम्पा की भावना से दान देने का निषेध कहीं भी नहीं है, किन्तु विधान है। उदाहरण के लिए उपासक दशाङ्ग सूत्र में ही सकडाल पुत्र श्रावक के वर्णन में कहा गया है कि गोशालक मंखली पुत्र से प्रश्नोत्तर करने के पश्चात् सकडाल पुत्र ने गोशालक को पाट आदि चीजें दीं। इस प्रकार धर्म-बुद्धि या गुरु-बुद्धि से तो दूसरे को दान देने का निषेध है, लेकिन व्यवहारादि-बुद्धि से दूसरे को दान देने का श्रावक के लिए निषेध नहीं है। इसलिए श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह सभी अतिथियों को दान देने के लिए अपने घर का द्वार खुला रखे।

अतिथि-संविभाग व्रत के अतिचार

शास्त्रकारों ने इस बारहवें व्रत के पाँच अतिचार बताये हैं, जिनसे बचना व्रतधारी श्रावक का कर्त्तव्य है। अतिचारों से बचे रहने पर ही श्रावक का व्रत निर्दोष रह सकता है और अतिचारों का सेवन करने पर व्रत दूषित हो जाता है। इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं:—

१ सचित निक्षेपण—जो पदार्थ अचित होने के कारण मुनि महात्माओं के लेने योग्य हैं, उन अचित पदार्थों में सचित पदार्थ मिला देना, अथवा अचित पदार्थों के समीप सचित पदार्थ डाल देना, सचित निक्षेपण नाम का पहला अतिचार है।

२ सचित परिधान—अचित पदार्थ के ऊपर सचित्त पदार्थ ढाँक देना, सचित परिधान नाम का दूसरा अतिचार है।

३ कालातिक्रम—जिस वस्तु के देने का जो समय है, वह समय टाल देना, कालातिक्रम नाम का तीसरा अतिचार है। उदाहरण के लिए किसी देश में अतिथि को आहार देने का समय दिन का दूसरा प्रहर है। इस समय को टाल देना, अतिथि को आहार देने के लिए उद्यत न होना, कालातिक्रम नाम का तीसरा अतिचार है।

४ परोपदेश्य—वस्तु देनी न पड़े, इस उद्देश्य से अपनी वस्तु को दूसरे की बताना, अथवा दिये गये दान के विषय में यह संकल्प करना कि इस दान का फल मेरे पिता, माता, भाई आदि को मिले, परोपदेश्य नाम का चौथा अतिचार है।

५ मात्सर्य—दूसरे को दान देते देखकर उसकी प्रतिस्पर्धा करने की भावना रखकर दान देना, यानि यह बताने के लिए कि मैं उससे कम नहीं हूँ किन्तु बढ़कर हूँ, दान देना, मात्सर्य नाम का पाँचवाँ अतिचार है।

ये अतिचार, बारहवें व्रत को दूषित करने वाले हैं। इस लिए इन अतिचारों से बचते रहना चाहिए। ये अतिचार जब तक अतिचार के रूप में हैं, तब तक तो व्रत को दूषित ही करते हैं, लेकिन अनाचार के रूप में होते ही व्रत नष्ट कर देते हैं। इनके सिवाय कुछ अन्य कार्य भी ऐसे हैं, जिनसे व्रत भंग हो जाता है। वे कार्य इस प्रकार हैं:—

दाणन्तराय दोसा न देई दिज्जन्त यं च वारेई।
दिण्णे व परितप्पई इति किवणता भवे भंगो॥

अर्थात्—पूर्व संचित दानान्तराय कर्म के दोष से ऐसी कृपणता रहती है कि स्वयं भी दान नहीं देता है, दूसरे को भी दान देने से रोकता है और जिसने दान दिया है, उसको परिताप पहुँचाता है। इस तरह की कृपणता से, अतिथि-संविभाग व्रत भंग हो जाता है।

अनेक लोग कृपणता के कारण दान भी नहीं देना चाहते और अपनी कृपणता को छिपाकर उदारता दिखाने एवं पात्र तथा अन्य लोगों की दृष्टि में भले बने रहने के लिए 'नाहीं' भी नहीं करते, किन्तु अतिचारों में वर्णित कार्यों का आचरण करने लगते हैं यानि या तो अचित पदार्थ में सचित पदार्थ मिला देते हैं या अचित पदार्थ पर सचित पदार्थ ढाँक देते हैं, या भोजनादि का समय टाल देते हैं, अथवा अपनी चीज को दूसरे की बता देते हैं। ऐसा करके वे कृपण लोग अपनी चीज भी बचा लेना चाहते हैं, और साधु मुनिराजों के समीप भक्त एवं उदार भी बने रहना चाहते हैं। लेकिन ऐसा करना कपट है, अतिचार है और व्रत को दूषित करना है। इसलिए श्रावक को ऐसे कामों से बचना चाहिए।

इस कथन पर से कोई कह सकता है कि 'जिसमें दान देने की भावना ही नहीं है, उस व्यक्ति में दान देने की भावना से निपजने वाला बारहवाँ व्रत ही कहाँ है! और जब व्रत नहीं है, तब अतिचार कैसे?' इस कथन का समाधान यह है

कि यह व्रत एक तो श्रद्धा रूप होता है, दूसरा प्ररूपणा रूप होता है और तीसरा स्पर्शना रूप होता है। इन तीनों भेदों में से स्पर्शना रूप व्रत तो संयोग मिलने पर ही होता है, लेकिन श्रद्धा और प्ररूपणा रूप व्रत तो सदा ही बना रह सकता है। मायाचार या कपट से श्रद्धा और प्ररूपणा रूप व्रत भी दूषित हो जाता है। इसलिए अतिचार में बताये गये कामों से श्रावक को सावधानी पूर्वक दूर रहना चाहिए।

इस प्रकार इन शिक्षा व्रतों का स्वरूप संक्षेप में बताया गया है, विस्तार से वर्णन किया जाय तो एक २ व्रत के ऊपर एक २ ग्रन्थ बन सकता है किन्तु ग्रन्थ बढ़ने के भय से यहां संक्षेप में ही स्वरूप प्रतिपादन किया गया है। इन शिक्षा व्रतों के स्वरूप को हृदयंगम करके जो भव्यात्मा व्रतों का सम्यक् प्रकार से आराधन करेगा और अतिचारों एवं दोषों से बचता रहेगा तो वह श्रावक-पद का आराधक होकर स्वल्प-काल में ही वांच्छितार्थ को प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त दशा को प्राप्त होगा। इत्यलम्।

कि यह व्रत एक तो श्रद्धा रूप होता है, दूसरा प्ररूपणा रूप होता है और तीसरा स्पर्शना रूप होता है। इन तीनों भेदों में से स्पर्शना रूप व्रत तो संयोग मिलने पर ही होता है, लेकिन श्रद्धा और प्ररूपणा रूप व्रत तो सदा हो बना रह सकता है। मायाचार या कपट से श्रद्धा और प्ररूपणा रूप व्रत भी दूषित हो जाता है। इसलिए अतिचार में बताये गये कामों से श्रावक को सावधानी पूर्वक दूर रहना चाहिए।